अष्टादश श्लोकी गीतामृतवर्षिणी

श्री वेदान्ती जी

श्री १०८ श्री स्वामी एकरसानन्द जी सरस्वती जी से प्राप्त उपदेश

इन परमात्मा की आज्ञाओं पर जो चलेगा उसकी मुक्ति अवश्य होगी। यह उपदेश वेद तथा गीतानुसार है।

१—संसार को स्वप्नवत जानो।

२—अति हिम्मत रक्खो।

३—अखंड प्रफुल्लित रहो दुःख में भी।

४—परमात्मा का स्मरण करो जितना बन सके।

५—किसी को दुख मत दो, बने तो सुख दो।

६—सभी पर अति प्रेम रक्खो।

७—नूतन बालवत स्वभाव रक्खो।

८—मर्यादानुसार चलो

९—अखंड पुरुषार्थ करो गंगाप्रवाहवत, आलसी मत बनो।

१०—जिसमें तुमको नीचा देखना पड़े ऐसा काम मत करो।

सर्वका सार—परमात्मा का मानसिक स्मरण करो, पुरुषार्थ करो, परम पुरुषार्थ करो, परोपकार करो, माया से गांठ छोड़ो।

ॐ

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

अष्टादश श्लोकी गीतामृतवर्षिणी

ले

ख

क

श्री वेदान्ती जी

मूल्य १)
सम्बत २००६

प्रकाशक
श्री जगदीशप्रसाद एडवोकेट
विक्टोरियापार्क, काशी

प्रकाशक का वक्तव्य

अनादि अज्ञाननिद्रा जनित स्वप्न जगज्जाल में सभी प्राणी परम सुख की प्राप्ति और दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति चाहते हैं। उन्हीं के उद्धार के लिए अनन्त ब्रह्माण्डनायक सच्चिदानन्द परमेश्वर ने भगवान कृष्ण के रूप में अवतार ग्रहण कर अर्जुन को निमित्त बना कर श्रीमद्भगवद्गीता का निर्माण किया है जिसका मुख्य तात्पर्य ज्ञान में है क्योंकि मोह की निवृत्ति ज्ञान से होती है। पर ज्ञान के अधिकारी सब नहीं हैं। जिनका अन्त:करण मल विक्षेप दोष से रहित होता है उन्हीं का मोह ज्ञान के उपदेश से नाश होता है। अतः भगवान ने अधिकारी बनाने के लिए कर्म और उपासना का भी गौण रूप से मर्म समझाया है। आत्मज्ञान का साक्षात साधन उपनिषद रूपी धेनु है जिसका दुग्ध गीता है और यह 'अष्टादश श्लोकी गीतामृतवर्षिणी' उस गीता रूपी दुग्ध की मधुरता है। इस पुस्तक के पठन एवं मनन से वेदान्त संम्बन्धी अत्यावश्यक विषयों का ज्ञान भलीभांति हो सकता है। आशा है कि वेदान्तसिद्धान्तानुरागी साधक के लिए यह पुस्तक विशेष उपयोगी सिद्ध होगी।

दैवी संपद मंडल काशी की प्रेरणा से वेदान्तशास्त्र मर्मज्ञ ब्रह्मनिष्ठ श्री वेदान्ती जी ने इस ब्रह्मविद्याविषयक निबन्ध को लिख कर साधकों का बड़ा उपकार किया है। आशा है गीता प्रेमी जनता में इस पुस्तक का अवश्य समादर होगा।

आश्विन शुक्ल,
काशी

विनीत
जगदीश प्रसाद एडवोकेट

अष्टादश श्लोकी गीतामृतवर्षिणी—

प्रकाशक के पिता स्वर्गीय मुन्शी रुद्रप्रसाद मोख्तार, काशी।

कृतज्ञता प्रकाश

प्रारम्भ में सर्वान्तर्यामी सच्चिदानन्द परम पिता परमात्मा को कोटिशः धन्यवाद है जिनकी असीम अनुकम्पा से यह पुस्तक निर्विघ्न समाप्त हुई।

पुनः दैवीसंपदमंडल काशी के सदस्यों को धन्यवाद है जिनकी सद प्रेरणा से यह पुस्तक प्रकाशित की गई है। उनमें विशेषकर काशी निवासी परमभक्त श्री जगदीशप्रसाद जी एडवोकेट विशेष धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन का सारा भार अपने ऊपर ले लिया है और जिनके उत्साह के बिना यह पुस्तक इतनी शीघ्र पाठकों के हाथों तक न पहुँच सकती। उक्त प्रकाशक के पिता स्वर्गीय परम भक्त मुन्शी रुद्रप्रसाद मोख्तार काशी की पुण्य स्मृति में यह पुस्तक प्रकाशित की गई है। सच्चिदानन्द भगवान से प्रार्थना है कि दैवी सम्पदमंडल के प्रत्येक सदस्य को पूर्ण रूप से दैवी सम्पदा प्रदान करके आसुरी संपदा नाश करने की शक्ति प्रदान करें।

लेखक—

श्री:

अष्टादश श्लोकी-गीतामृतवर्षिणी

निवेदन

श्री मद्भगवद्गीता का आशय समुद्र के समान अति गंभीर और परम रहस्यमय है । अठारह श्लोकों में गीतामृत को गागर में सागर भरने के समान प्रयत्न किया गया है । हितकारी वचन भगवान कृष्ण के कहे हुए समझ कर श्रद्धापूर्वक ग्रहण कर लेना चाहिये और त्रुटियाँ लेखक की समझ कर सुधार लेना चाहिये ।

प्रणाम

जिनके मुखारविन्द से निकले हुए गीतामृत का महा मोह रूपी ग्राह को ग्रस लेना ही एक मुख्य काम है उन जगदाधार परात्पर परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान कृष्ण को सर्व ओर से नमस्कार है जो स्वाश्रित अज्ञान से त्रिभुवन के आकार में विवर्तित हैं ।

ॐ श्री परमात्मने नमः

श्री मद्भगवद्गीता के अष्टादश श्लोक

१–न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानिच।
किं नो राज्येन गोविन्दकिं भोगैर्जीवितेन वा॥ १–३२

२–अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्चभाषसे।
गतासूनगतासूंश्चनानुशोचन्ति पण्डिताः॥ २–११

३–इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परंमन।
मनसस्तु परा बुद्धिर्योबुद्धेः परतस्तु सः॥ ३–४२

४–तस्मादज्ञानसंभूतंहृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनंसंशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥ ४–४२

५–ब्रह्मण्याधाय कर्माणिसङ्गंत्यक्त्वा करोतिय ः
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥ ५–१०

६–सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥६-२९॥

७ मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ ७-७

८–पुरुषः से परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तः स्थानि भूतानि येनसर्वमिदं ततम्॥ ८-२२

९–यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषिददासियत।
यत्तपस्यसि कौन्तेयतत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ ९–२७

१०–महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषांलोकइमाः प्रजाः ॥ १०–६

११–मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥गीता ११–५५

१२–यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभ परित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१२–१७

१३–पुरुषः प्रकृतिस्थोहि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुण सङ्गोऽस्य सदसद्योनि जन्मसु ॥ १३-२१

१४–प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥ १४–२२

१५–न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमंमम ॥ १५–६

१६–दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
माशुचः संपदंदैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ १६–५

१७–अश्रद्धया हुतंदत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत ।
असदित्युच्यते पार्थ न चतत्प्रेत्य नो इहि ॥ १७–२८

१८–सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामिमाशुचः ॥१८–६६

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

अष्टादशश्लोकी गीतामृतवर्षिणी ।

श्रीगीतामृत जगदाधार सच्चिदानन्द पुरुषोत्तम भगवान कृष्ण के मुखारविन्द से निकलने के कारण स्वतः प्रमाण है और सर्वोपनिषद् रूपी गऊ का दुग्ध होने से वेदों का सार है। स्वर्ग का अमृत पान करनेवालों का भी पुण्य क्षीण होने पर मृत्युलोक में पुनः जन्म-मृत्यु होने लगता है, परन्तु गीतामृत को पान करने वाले पुनर्जन्म से सदा के लिये छुटकारा पाकर विष्णु परमधाम को नदी समुद्रवत् अभेदरूप से प्राप्त कर लेते हैं। अस्तु, अन्तःकरण के मलविक्षेप आवरण, संसृति मूल तीनों दोष की नाशक होने से गीता अमृत की गंगा है जो द्वापर के अन्त में प्रकट होने के कारण विशेषकर कलिमल ग्रसित प्राणियों को शोकसागर से पार करने के लिये अमोघ जहाज है। परन्तु अभाग्यवश शोकसागर में डूबे हुए मूर्ख प्राणी कामरूपी मकर, क्रोधरूपी कच्छप और लोभरूपी मीन की पीठ पर बैठकर पार होने का स्वप्न देख रहे हैं। जो मनुष्य शोक निवृत्त करने का उपाय जानने के लिये प्यासे की भाँति व्याकुल हैं, परन्तु वह उपाय उनकी समझ से बाहर है और जो श्रीभगवद्‌गीता पर पूर्ण श्रद्धा भी रखते हैं। बस वे ही मनुष्य गीताशास्त्र के अधिकारी हैं। जैसे स्वप्न के दुःख जागने से ही निवृत्त हो सकते हैं उसी प्रकार अज्ञान-जनित होने से शोक की निवृत्ति आत्मज्ञान से ही हो सकती है। अस्तु

सांख्ययोग गीता का विषय है। परन्तु विषयासक्ति रूप दुर्बलता से युक्त हृदय में आत्मज्ञान दृढ़ नहीं हो सकता जैसे दुर्बल रोगी को घृत हज़म नहीं होता। अस्तु, विषयासक्ति रूप रोग की निवृत्ति के लिये निष्काम कर्मयोग रूप औषध की प्रथम में परम आवश्यकता है। क्योंकि—

"योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति।"

गीता अ० ५–६

अतः गीताशास्त्र का मुख्य विषय सांख्ययोग और गौण विषय कर्मयोग है। सांख्ययोग का श्रवण दुग्ध, मनन दधि, निदिध्यासन मक्खन और साक्षात्कार रूप ब्रह्मनिष्ठा घृत के समान है। परन्तु यह ज्ञान-घृत वही पचा सकता है जो भगवत्परायण होकर निष्काम कर्मयोग द्वारा अपने अन्तःकरण के मलविक्षेप दोष दूर करके विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति, मुमुक्षतारूप चतुष्टय साधन सम्पन्न हो चुका है। विषय और ग्रन्थ का प्रतिपाद्य-प्रतिपादक सम्बन्ध है और अधिकारी और फल का प्रापक प्राप्य सम्बन्ध है। दुःखालय तथा शोक मूल पुनर्जन्म की अत्यन्त निवृत्ति और निर्द्वैत परमानन्दघन विष्णु परमधाम की प्राप्ति रूप मोक्ष इस गीताशास्त्र का प्रयोजन है। अधिकारी, विषय, सम्बन्ध, प्रयोजन इन चारों का नाम अनुबन्ध है।

गीता के दूसरे अध्याय के आठवें श्लोक में अर्जुन ने अपने हृदय के भाव को बतलाया है कि त्रिलोकी के राज्य में भी शोक दूर करने की सामर्थ्य नहीं है और मैं शोक से छुटकारा चाहता हूँ। फिर राज्य के लिये मरना मारना मूर्खता है। ऐसा कहने का कारण यह है कि परमात्मा से भिन्न सकल प्रपञ्च असत् जड़ दुःख

रूप है। चाहे जल से मक्खन और बालू से तेल निकल आए परन्तु माया रचित मृगजलवत् देखे अथवा सुने हुए समस्त तुच्छ लोकों के प्राप्त हो जाने पर भी कोई सुखी नहीं हो सकता। उल्टा जितना संसार बढ़ता जायेगा उतना दुःख भी बढ़ता जावेगा, क्यों कि ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी लोक पुनरावर्ती हैं। इस कारण से अर्जुन भगवान कृष्ण से कहते हैं कि :—

१—न काङ्क्षे विजयं कृष्ण, न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा॥

गीता १-३२

जैसे अमर होने की इच्छा वाला विष पान क्यों करे, उसी प्रकार शोक मोह की खान क्षणभंगुर जीवन से व दुःख रूप भोगों से और स्वप्नवत् अनित्य राज्य से मेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा। अतः मैं राज्य और विजय कुछ नहीं चाहता हूँ, क्योंकि इस युद्ध द्वारा राज्य मिलने पर लाभ तो कुछ होगा नहीं उल्टा महान पाप का भागी होना पड़ेगा। एक तो गुरुजनों व सम्बन्धीजनों को मारने का महान पाप लगेगा दूसरे कुल नाश हो जायेगा और कुल नाश होने पर सनातन कुल धर्म नष्ट हो जायेगा और धर्म नष्ट होने से कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जायेंगी। स्त्रियों के दूषित होने से वर्णसंकर उत्पन्न होंगे।

वर्णसंकर कारक दोषों से कुलघातियों के सनातन कुलधर्म और जातिधर्म नष्ट हो जावेंगे और पिण्डोदक क्रिया लुप्त हो जाने से इनके पितर भी गिर जावेंगे और नष्ट हुए कुलधर्म वाले मनुष्यों को अनन्त काल तक नरक में बास करना होगा। बुद्धि-

मान को दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये। इतने बड़े अनर्थकारी राज्य और विजय प्राप्त करने से क्या लाभ ? यह सोचकर कि अनर्थकारी युद्ध को करने वाले कुलघाती लोग मरकर नर्क जावेंगे और जीवित रहनेवाले अधर्मी और वर्णसंकर उत्पन्न करनेवाले होंगे, अर्जुन शोकसागर में डूब गया, और भगवान कृष्ण से शिष्य भाव से अपने लिये कल्याण मार्ग पूछा। जीवित अथवा मरे हुए दोनों के प्रति शोक करना मूर्खता है। यह बतलाते हुए भगवान कृष्ण अर्जुन से बोले।

२—अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥२-११॥

जैसे जो पुरुष स्वप्न के जीवित मृतों का शोक करते हुए अपने को जगा हुआ समझ रहा हो तो वह जगा नहीं सोता ही है। अथवा जो राजा की सी बातें करने वाला भीख भी माँगे तो वह राजा नहीं भिखारी ही है। अथवा जैसे उत्तम पतिव्रता की सी बातें करनेवाली स्त्री परपुरुषगामी भी हो तो वह पतिव्रता नहीं वेश्या है। उसी प्रकार पण्डितों की सी बात करनेवाला यदि जीवित या मृतों के लिये शोक करता है तो वह पण्डित नहीं मूर्ख है। क्योंकि पण्डित जन जिनके प्राण चले गये हैं उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं उनके लिये भी शोक नहीं करते हैं। आत्मविषयिणी बुद्धि को पण्डा कहते हैं, वह जिसके अन्दर होती है उसको पण्डित कहते हैं। शोक से तर जाना ही

आत्मज्ञानी पण्डित का लक्षण है। यथा :—"तरति शोकं आत्म-वित्"। मूर्ख तो देह को ही आत्मा मान कर देह के जन्म-नाश के साथ साथ आत्मा का भी जन्म नाश मानता है। परन्तु ऐसा नहीं है। जैसे महाकाश से सदा से अभिन्न घटाकाश घट की उत्पत्ति के पूर्व भी है घट के नाश के अनन्तर भी रहता है और जैसे कमल को विकसित करने वाला सूर्य कमल के जन्म व नाश का साक्षी है। अथवा जैसे स्वप्न देह के उत्पन्न होने के पूर्व और नाश होने के अनन्तर स्वप्नद्रष्टा निर्विकार रूप से विद्यमान है। उसी प्रकार आकाश व सूर्य व स्वप्न द्रष्टावत् नित्य सर्वगत अचल अज असंग अखंड साक्षी सच्चिदानन्द आत्मा शरीर उत्पन्न होने के पूर्व में था और शरीर के नाश के अनन्तर भी रहता है। शरीर नाश होने से आत्मा का नाश नहीं होता। अथवा जैसे कौमार अवस्था नाश होने के पश्चात् और यौवन अवस्था उत्पन्न होने के पूर्व में भी आत्मा निर्विकार रूप से स्थित है और जिस प्रकार आत्मा वृद्धावस्था उत्पन्न होने के पूर्व और युवावस्था नाश होने के अनन्तर भी है। वैसे ही पूर्व देह के नाश के अनन्तर और वर्तमान देह के जन्म के पहले जन्मसत्ता, वृद्धि, परिणाम, अपक्षय और विनाश षट् विकार से रहित यह आत्मा थी और वृद्धावस्था नाश होने के अनन्तर और उत्तर देह उत्पन्न होने के पूर्व यह आत्मा रहेगी।

अज्ञान से मूर्ख स्थूल देह के धर्म कौमार, युवा और जरा अवस्थायें निज स्वरूप सच्चिदानन्द आत्मा में उसी प्रकार देखते हैं जिस प्रकार मूर्ख बादल के दौड़ने से चन्द्रमा को दौड़ता हुआ मान लेते हैं। जैसे पुराने वस्त्र को त्याग कर नवीन वस्त्र

ग्रहण किये जाते हैं। उसी प्रकार स्थूल शरीर रूपी वस्त्र का ग्रहण त्याग सूक्ष्म शरीर द्वारा होता है। एक स्थूल देह को छोड़कर दूसरे देह को प्राप्त होना वास्तव में नित्य सर्वगत आत्मा का धर्म नहीं वरन् सतरह तत्व अर्थात् दस इन्द्रियाँ पंच प्राण और मन बुद्धि से बनें हुए सूक्ष्म देह का धर्म है। परन्तु इस रहस्य को तत्ववेत्ता जानते हैं मूर्ख नहीं जानते। जैसे नदी जलहीन हो सकती है, नदी को अवकाश देनेवाला आकाश व्यापक महाकाश रूप होने के कारण कहीं आता जाता नहीं है। यद्यपि जल में प्रतिबिम्बित आकाश जल के आने जाने व चंचल होने से जल के साथ आता जाता व चंचल भासता है तथापि आना जाना व चंचलता जल के ही धर्म है प्रतिबिम्बाकाश के भी धर्म नहीं फिर बिम्ब स्वरूप आकाश के धर्म कैसे हो सकते हैं। विम्ब स्वरूप आकाश में तो जल के धर्मों की प्रतीति भी नहीं। उसी प्रकार स्थूल देह रूपी नदी सूक्ष्म शरीर रूपी जलसे हीन हो सकती है, परन्तु स्थूल सूक्ष्म संघात के अधिष्ठान साक्षी सत्ता स्फूर्ति देने वाले निज स्वरूप आत्मा से उसी प्रकार मृत स्थूल देह भी रहित नहीं हो सकती जैसे सर्प रज्जु से रहित और स्वप्न देह स्वप्न-द्रष्टा से रहित होकर प्रतीत नहीं हो सकता। स्थूल देह रूपी नदी से सूक्ष्म देह रूपी जल एक स्थान से दूसरे स्थान को कारण देह अज्ञान रूपी द्रवता पर्यन्त गमन किया करता है। जीवात्मा के विशेष रूप आकाशवत् सर्वगत आत्मा में आना जाना नहीं हो सकता है इसी कारण से श्री तुलसीदासजी ने परमात्मा राम को सम्बोधन करते हुए कहा कि:—

दोहा—पूछेहु मोहि कि रहौं कहं, मैं पूंछत सकुचाउं।
जहं न होहु तहं देहु कहि, तुम्हहिं देखावौं ठाउं॥

जीव के सामान्य रूप साभास अन्तःकरण के आभास अंश में अन्तःकरण के धर्म कर्तृत्व भोक्तृत्व व गमनागमन उसी प्रकार भासते हैं जैसे जल की चंचलता, चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब में भासती है। अतः राग द्वेष गमनागमन धर्म चिदाभास के भी नहीं अन्तःकरण के धर्म हैं। चिदाभास में स्फटिक मणि में लाल पुष्प की लालिमा की भाँति देहों के धर्मों की केवल प्रतीति मात्र है, जीव के लक्ष्यार्थ पारमार्थिक विशेष स्वरूप साक्षी आत्मा में भासते भी नहीं। इसी कारण पंचदशी में लिखा है कि 'चिदाभासेऽप्यसंभाव्या ज्वरासाक्षिणि का कथा'। जैसे सर्वत्र होने से विभु आकाश सर्वभौतिक पदार्थों से निकट है दूर नहीं। परन्तु घटाकाश से न तो दूर है और न निकट ही है, क्योंकि भिन्न होने पर दूर या निकट हो सकता था। घटाकाश का तो विभु आकाश स्वरूप ही है। इसी प्रकार सर्वत्र होने से सच्चिदानन्द ब्रह्म स्थूल, सूक्ष्म, कारण देहों से दूर नहीं निकट ही है, परन्तु जीव के वास्तविक स्वरूप आत्मा से न तो दूर ही है और न निकट ही है, क्योंकि आत्मा का स्वरूप ही ब्रह्म है। इसी कारण विचारसागर में लिखा है कि:—

विभु नभ सम सो ब्रह्म है, नहिं नियरे नहिं दूर॥

आत्मा निर्विकार स्वयं प्रकाश होने से सूर्यवत् न किसी क्रिया का कर्ता है और न कर्म है जैसा कि कठोपनिषद में बतलाया गया है कि :—

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥

आत्मा किसी का कर्ता या कर्म नहीं है। इतना ही नहीं, आत्मा किसी का हेतु कर्ता अर्थात प्रेरक भी नहीं है। यथा,

कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्' । गीता अ० २-२१
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्' । गीता अ० ५-१३

सूर्य की किरणों में प्रतीत होनेवाले मृगजल में तरंग तथा बुदबुद भी भासित होते हैं, परन्तु मृग जल के तरंग बुदबुदों का सूर्य न तो कर्ता है न प्रेरक ही है, क्योंकि मृग-जल सहित बुदबुद तरंग तीनों काल में हुए ही नहीं। जब प्रेरणा करने योग्य पदार्थ ही नहीं तो प्रेरक कैसा ? इसी प्रकार मायामय मृग-जल से उत्पन्न हुए नाम रुप तरंग बुदबुदों का भान आत्मारूपी सूर्य-किरणों में जीव के सामान्य कल्पित स्वरूप साभास मन-मृग को मिथ्या हो रहा है

'यद्यपि मृषा तिहुँ काल मंह, भ्रम न सकैं कोउ टारि' ।

सूर्य-किरण में केवल मृग-जल की ही कल्पित प्रतीति होती है। परन्तु भटकने वाला मृग सूर्य किरणों में मृग जल की भाँति सूर्य किरणों का विवर्त नहीं है, उसकी पृथक् सत्ता है, परन्तु सच्चिदानन्द आत्मा रूपी सूर्य किरण में केवल दृश्य रूपी मृगजल की ही कल्पित प्रतीति नहीं होती वरन् द्रष्टा व दर्शन रूपी मृग भी अर्थात् साभास सूक्ष्म शरीर भी कल्पित माया रचित भासित होते हैं। अतएव सारी त्रपुटियों का आत्मा अधिष्ठान है और आत्मा में सारी त्रपुटियाँ रज्जु सर्पवत् अज्ञान से अध्यस्त हैं।

जैसे धान में छिलके को हटाने के पश्चात् जो शेष रहता है वह चावल है उसी प्रकार स्थूल सूक्ष्म कारण, जाग्रत स्वप्न सुषुप्तिऔर द्रष्टा दर्शन दृश्य रूपी छिलका का बाध करने पर जो अवाङ्मनस गोचर सर्व का अधिष्ठान रूपी चावल शेष रहता है वही निज स्वरूप स्वयं प्रकाश परमानन्द घन आत्मा है। जैसे सूर्य दिन रात दोनों से परे है उसी प्रकार निज स्वरूप आत्मा ज्ञान अज्ञान दोनों से परे है। यदि आत्मा वृत्ति ज्ञान का विषय मान लिया जाये तो ज्ञान स्वरूप आत्मा ज्ञेय, दृश्य और कर्म हो जायगा। परन्तु कर्ता कर्म व ज्ञाता ज्ञेय नहीं हो सकता और द्रष्टा दृश्य नहीं हो सकता। जैसे अग्नि अन्य को दग्ध करती है स्वयं दाहन का विषय नहीं उसी प्रकार विदिता वेदन का विषय नहीं हो सकता। अज्ञान संशय विपर्यय के नाश के लिये अन्य ज्ञान की आवश्यकता होती है परन्तु नित्य शुद्ध बोध स्वरूप आत्मा में अज्ञान संशय विपर्यय के भान का सूर्य में अन्धकार की भाँति अत्यन्ताभाव है। यदि कोई यह कहे कि ज्ञान से परे आत्मा को अज्ञान शून्य रूप जड़ मान लिया जाये तो ! इसका उत्तर यह है कि आत्मा यदि जड़ अज्ञान रूप है तो जड़ बुद्धि में ज्ञान का प्राकट्य नहीं हो सकता। यदि आत्मा शून्य होता तो सारा जगत् शून्य होता और अहं त्वं भाव से रहित सर्वत्र सर्वदा सुषुप्त रूप रहता। जैसे यदि अग्नि प्रकाश रूप न होता तो कहीं भी प्रकाश का प्राकट्य नहीं हो सकता था। यद्यपि किसी काष्ठादि उपाधि के बिना प्रकाश का प्रत्यक्ष करना असम्भव है। अथवा जैसे बिना किसी अन्य उपाधि के केवल आकाश मात्र से शब्द नहीं सुना जा सकता। परन्तु तब भी आकाश शब्द स्वरूप है। यदि आकाश में शब्द न होता

तो संसार शब्द हीन होता। जहाँ कहीं शब्द सुनाई पड़ता है वह आकाश का ही गुण है। उसी प्रकार स्थूल सूक्ष्म कारण का आधार अधिष्ठान साक्षी स्वयं प्रकाश आत्मा बुद्धि से परे होने पर भी ज्ञान घन है। जैसे बिजली के बिना मशीनों व बिजली के पंखो में चेष्टा और लट्टुओं में प्रकाश नहीं हो सकता उसी प्रकार परम प्रकाशक आत्मा के बिना अन्तःकरणों व ज्ञानेन्द्रियों में ज्ञान और प्राणों व कर्मेन्द्रियों और पंचीकृत भौतिक स्थूल शरीरों में चेष्टा नहीं हो सकती। जैसे स्वप्न नेत्रों से जाग्रत का रूप परे है क्योंकि स्वप्न के नेत्र प्रातिभासिक और जाग्रत का रूप व्यावहारिक है। उसी प्रकार बुद्धि के पहुँच से निज स्वरूप सच्चिदानन्द आत्मा परे है, क्यों कि बुद्धि प्रातिभासिक व्यावहारिक है और आत्मा पारमार्थिक है। जैसे स्वप्न देह जाग्रत देह से भेंट नहीं कर सकता है उसी प्रकार बुद्धि भिन्न रहकर आत्मा से भेंट नहीं कर सकती। परन्तु जैसे निद्रा टूटने पर स्वप्न देह जाग्रत देह से अभिन्न हो जाती है। अथवा जैसे शीशा नाश होने पर प्रतिबिम्ब बिम्ब से भिन्न प्रतीत नहीं होता। उसी प्रकार निद्रा अथवा शीशा स्थानीय अविद्या के नाश होने पर साभास अन्तःकरण का निज स्वरूप व्यापक आत्मा से वाध समानाधिकरण हो जाता है अर्थात् आत्मा से अनात्मा की ज्ञान होने पर पृथक् सत्ता नहीं रहती, जैसे जागने पर स्वप्न की पृथक् सत्ता नहीं रहती। अतः आत्म ज्ञान का प्रयोजन अविद्या की निवृत्ति मात्र है। जो आत्मा को बुद्धि से परे अज्ञात समझता है वही आत्मा को जानता है और जो आत्मा को बुद्धि का विषय ज्ञात समझता है वह आत्मा को नहीं जानता जैसा कि केनोपनिषद का मन्त्र है कि :—

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥

यदि आत्मा का अन्य विदिता माना जाय तो अनवस्था दोष होगा अर्थात् आत्मा के अन्य विदिता का भी तीसरा अन्य विदिता और उसका भी अन्य चौथा विदिता इसी प्रकार अन्तिम विदिता कोई न होने से अनवस्था दोष आ जायेगा। इसी कारण बृहदारण्यक उपनिषद् का मन्त्र है कि :—

न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः, न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः।

अर्थात् दृष्टि इन्द्रियवृत्ति और बुद्धि वृत्ति के साक्षी को तू देख जान नहीं सकेगा। इससे भिन्न इसका और कोई द्रष्टा नहीं, यथा—

'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा।'

शुद्ध आत्मा को विषय करनेवाली आत्मा से भिन्न वृत्ति का अभाव ही शब्दमात्र अर्थ शून्य अविद्या है। यह अविद्या परमार्थ दृष्टि से तुच्छ निरात्मक अभावरूप है और व्यावहारिक दृष्टि से अज्ञान का अनुभव होने से अनादि भावरूप है, परन्तु ज्ञान से बाध हो जाने के कारण सान्त है। अज्ञान व अज्ञानजनित प्रपंच का निरुपाधिक शुद्ध आत्मा आश्रय होने से वास्तव में ज्ञाता व द्रष्टा भी नहीं है वरन अद्वैत नित्य ज्ञानस्वरूप है।

ज्ञेय अथवा दृश्य की अपेक्षा से चिदाभासरूप से आत्मा को ज्ञाता व द्रष्टा कहा जाता है। परमार्थ में शुद्ध आत्मा अध्यस्त माया अविद्या के भान से रहित नित्य परमानन्द, सहज प्रकाशरूप अखण्ड ज्ञानघन, मन वाणी का अविषय केवल अद्वैतरूप है। जैसे

एक स्त्री पिता की अपेक्षा से कन्या और पति की अपेक्षा से पत्नी है। इसी प्रकार समस्त प्रपंच का मूल कारण अज्ञान ईश्वर की अपेक्षा से माया और जीव की अपेक्षा से अविद्या कहा जाता है। ऐसा भेद नहीं समझना चाहिये कि अज्ञान के दो टुकड़े हो गये। उस अज्ञान की शक्ति दो प्रकार की है। रजोगुण और तमोगुण से नहीं दबा ऐसे सत्वगुण को ज्ञानशक्ति अथवा माया कहते हैं जो ईश्वर की उपाधि है। सच्चिदानन्द ब्रह्म के आभास से युक्त माया और ब्रह्म को ईश्वर कहते हैं। रजोगुण और तमोगुण से दबा हुआ जो सत्वगुण है उसको मलिन सत्वाअविद्या या क्रियाशक्ति कहते हैं। जो जीव की उपाधि है। सच्चिदानन्द ब्रह्म रूपी महाकाश के घटा-काशवत् अंश कूटस्थ आत्मा का अविद्या अथवा अन्तःकरण में आभास पड़ता है। अतः इस साभास अविद्या अथवा अन्तःकरण और कूटस्थ आत्मा को मिलाकर जीव का वाच्यार्थ समझना चाहिये। मलविक्षेप आवरण से रहित अर्थात् शुद्ध सत्व प्रधान अन्तःकरण को भी माया का कार्य या अंश होने से माया समझना चाहिये और मल विक्षेप आवरण से युक्त मलिन सत्व प्रधान अन्तःकरण को भी अविद्या का अंश अथवा कार्य होने से अविद्या ही समझना चाहिये। जैसे जल का अंश या कार्य होने से तरंग भी जल है।

समष्टि और शुद्ध होने से माया विशिष्ट ईश्वर सर्वज्ञ है। जैसे कोई पुरुष शीशे के मकान में बैठा हुआ आपको और दूसरों को भी देखता है, परन्तु मृत्तिका के मकान में बैठा हुआ आप ही को देखता है। उसी प्रकार माया शीशे का मन्दिर और अविद्या या मलिन अन्तःकरण मृत्तिका का मन्दिर है। अतः ईश्वर शुद्धसत्व माया वृत्ति द्वारा सर्वज्ञ और जीव अविद्या अथवा

मलिन अन्तःकरण वृत्ति द्वारा अल्पज्ञ है वृत्ति बिना दृश्य का ज्ञान नहीं हो सकता। इसी कारण जो घटादि अन्तःकरण रहित हैं वहाँ घट उपहित चेतन होने पर भी घट का ज्ञान नहीं होता है, क्यों कि ज्ञान केवल सभास वृत्ति में होता है शुद्ध चेतन को दृश्य का ज्ञान नहीं होता। परन्तु जैसे परिच्छिन्न सूर्य का प्रतिबिम्ब घट जल में पड़ता है इस प्रकार माया अविद्या में चेतन का प्रतिबिम्ब नहीं समझना चाहिये। ऐसे समझना चाहिये जैसे सर्वगत आकाश का प्रतिबिम्ब जल में होता है अथवा स्वप्न द्रष्टा का प्रतिबिम्ब स्वप्न में होता है। दृष्टान्त एक देश में होता है इससे सूर्य के दृष्टान्त में भी कुछ दोष नहीं। दुर्घट को सम्पादन करने के कारण इस मूल उपाधि को माया कहते हैं, विद्या से नाश हो जाने के कारण इसको अविद्या कहते हैं, स्वरूप को आच्छादन करने के कारण इसको अज्ञान कहते हैं। जगत् का उपादान होने से इसको प्रकृति कहते हैं। स्वतन्त्र सत्ता न होने से और ब्रह्म के आश्रित होने से इसको शक्ति कहते हैं। रजोगुण और सत्वगुण को दबाने वाली तमःप्रधान प्रकृति से क्रमशः आकाश वायु अग्नि जल पृथ्वी पाँच अपंचीकृत सूक्ष्म भूत उत्पन्न हुये और अपंचीकृत पंच भूतों के मिश्रित रजोगुण भाग से पंच प्राण और मिश्रित सतोगुण भाग से मन बुद्धि चित्त अहंकार उत्पन्न हुए। और अपंचीकृत आकाश के सत्वगुण से श्रोत्र, रजोगुण से वाक् और वायु के सत्वगुण से त्वचा और रजोगुण से पाणि और तेज के सत्वगुण से नेत्र और रजोगुण से पाद और जल के सत्वगुण से रसना और रजोगुण से उपस्थ और पृथ्वी के सत्वगुण से घ्राण और रजोगुण से गुदा। इस क्रम से ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं। इस प्रकार मन

बुद्धि चित्त अहंकार चतुष्टय अन्तःकरण व प्राण अपान, समान, उदान, व्यान पंचप्राण और पंचकर्मेन्द्रियाँ व पंचज्ञानेन्द्रियाँ और शब्द स्पर्श रूप रस गंध पंच विषय ये चौबीस तत्व मिलकर सूक्ष्म शरीर कहाते हैं। प्रत्येक भूत केअपने आधे २ भाग में दूसरों के आठवें २ भाग मिलाये गये। इस प्रकार से पंचीकरण द्वारा पंचीकृत भूत हुए। पंचीकृत भूतों के मिश्रित तमोगुण से स्थूल शरीर की रचना हुई। सुन्दर विलास में लिखा है कि—"ऐसे अनुक्रम करि शिष्य से कहत गुरु, सुन्दर सकल यह मिथ्या भ्रम जाल है। तीसरा कारण शरीर है जो अज्ञान की आवरण शक्ति है। इस कारण शरीर को अविद्या कहते हैं। अज्ञान दो प्रकार का होता है एक अग्रहण रूप अज्ञान और दूसरा अन्यथा ग्रहण रूप अज्ञान है। जैसे रस्सी का अज्ञान अग्रहणरूप कारण अज्ञान है और रस्सी का सर्प रूप से ग्रहण करना अन्यथा ग्रहण रूप कार्य अज्ञान है इसी प्रकार निजस्वरूप सच्चिदानन्द अद्वैत साक्षी परमात्मा का अज्ञान रज्जु के अज्ञान की भाँति मूल या अग्रहणरूप अज्ञान है जिसकी अवस्था सुषुप्ति है। सूक्ष्म शरीर और उसकी अवस्था स्वप्न व स्थूल शरीर और उसकी अवस्था जाग्रत रज्जु सर्पवत् अन्यथा ग्रहण रूप कार्य अज्ञान है। जैसे रस्सी के अज्ञान रूपी दर्पण में मिथ्या सर्प प्रतिबिम्बित होने लगता है उसी प्रकार निज स्वरूप के अग्रहण रूप मूल अविद्या रूपी दर्पण में समस्त मिथ्या स्थूल सूक्ष्म प्रपंच प्रतिबिम्बित हो रहा है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि जैसे अन्यत्र [illegible]म्बी आदि स्थान में देखे हुए सत्य सर्प के संस्कार से रस्सी में सर्प का अध्यास हो सकता है। अथवा जैसे कहीं सत्य बिम्ब होने पर शीशा में मिथ्या प्रतिबिम्ब हो सकता है। उसी प्रकार

आत्मा में अध्यस्त प्रपंच को कहीं अन्यत्र सत्य होना चाहिये। इसका समाधान इस प्रकार हो सकता है कि जैसे कल्पित सिनिमा के कल्पित सर्प के ज्ञान जन्य मिथ्या संस्कारों से रस्सी में सर्प का अध्यास हो सकता है अथवा जैसे मिथ्या स्वप्न के ज्ञान जन्य मिथ्या संस्कारों से स्वप्नान्तर प्रतीत होता है उसी प्रकार पूर्व २ मिथ्या अहंकारादिक प्रपंच के ज्ञान जन्य संस्कारों से उत्तर २ मिथ्या प्रपंच का अध्यास होता है। यदि कोई यह प्रश्न करे कि सर्वप्रथम जो प्रपंच उत्पन्न हुआ उसका हेतु कौन है, क्योंकि उससे पूर्व प्रपंच हुआ ही नहीं, जिसके ज्ञान जन्य संस्कार सर्व प्रथम प्रपंच के हेतु माने जायँ।

इसका समाधान यह है कि सर्व प्रपंच प्रवाह रूप से अनादि हैं इससे सर्व प्रथम प्रपंच कोई नहीं किन्तु अपने से पूर्व २ अध्यास से सम्पूर्ण उत्तर हैं। एक ब्रह्म, ईश्वर, जीव, अविद्या, अविद्या का चैतन्य से सम्बन्ध और अनादि वस्तु का भेद यह षट् वस्तु स्वरूप से अनादि हैं और शेष सर्व वस्तु प्रवाह रूप से अनादि हैं जिनमें ब्रह्म अनादि अनन्त और शेष अनादि सान्त है। ✓

यदि कोई यह प्रश्न करे कि रस्सी के विशेष रूप के अज्ञान और सामान्य रूप के ज्ञान होनेपर ही रस्सी में सर्प का अध्यास तभी होता है जब रस्सी सर्प के समान आकार की हो परन्तु असंग स्वयं प्रकाश आत्मा को अपने सामान्य रूप का ज्ञान और विशेष रूप का अज्ञान सम्भव नहीं और आत्मा व अध्यस्त प्रपंच की सादृश्यता भी रज्जु और सर्प की भाँति नहीं है, फिर भी आत्मा में प्रपंच को रज्जु सर्पवत् कैसे मान लिया जाय। इसका समाधान इस प्रकार हो सकता है कि प्रपंच का अधिष्ठान स्वयं प्रकाश आत्मा जो सामान्य चैतन्य है वह अज्ञान का आश्रय

है अभिमानी नहीं और वही आत्मा अनादि अध्यस्त अग्रहण रूप अविद्या में अनादि प्रतिबिम्ब रूप से अविद्या द्वारा अभिमानी होता है, जो विशेष चैतन्य अथवा जीव का सामान्य रूप कहलाता है। अतः जीव के सामान्य रूप में अपने विशेष रूप लक्ष्यार्थ साक्षी असंग व्यापक स्वयं प्रकाश सच्चिदानन्द आत्मा का अज्ञान है और सामान्य रूप सदंश का ज्ञान है अर्थात् यह सर्व को प्रतीति होती है कि मैं हूँ इस कारण सतरूप से आत्मा सर्व को भान होता है क्योंकि यह कोई नहीं कहता कि मैं नहीं हूँ। चैतन्य आनन्द व्यापक नित्य मुक्त आत्मा मैं हूँ यह सर्व को प्रतीति होती नहीं अतः सिद्ध हुआ कि जैसे रस्सी सामान्यरूप से ज्ञात और विशेषरूप से अज्ञात होती है उसी प्रकार चैतन्य व्यापक नित्य मुक्त आत्मा का विशेषरूप जीव को अज्ञात है और सामान्य रूप सदंश ज्ञात है। यही रज्जु सर्पवत् प्रपंच के अध्यास का मुख्य कारण है। जैसे रस्सी के सामान्यरूप का अज्ञान हो जाने पर सर्प की प्रतीति समाप्त हो जाती है यद्यपि सर्प की सत्ता का संस्कार शेष रह जाता है क्योंकि मिथ्या सर्प की सत्ता का संस्कार तो रस्सी के ज्ञान से नाश होगा, रस्सी के अज्ञान से नाश नहीं होगा। रस्सी के सामान्यरूप के भी अज्ञान से केवल सर्प की प्रतीति का नाश हो जावेगा सर्प के संस्कार का नाश नहीं हो सकता। उन संस्कारों के कारण ही पुनः रस्सी का सामान्य ज्ञान होने पर पूर्ववत् सर्प की प्रतीति होने लगती है और सादृश्य दोष से यह प्रत्यभिज्ञा होती है कि यह वही सर्प है जिसको पहले देख चुका हूँ परन्तु रज्जु सर्प की ज्ञात सत्ता है अज्ञात सत्ता नहीं। ज्ञात सत्ता उस भ्रममात्र निरात्मक पदार्थ की होती है जो ज्ञान काल में

ही अनहुआ आकाश में नीलमा और मृगजलवत् प्रतीत हो और ज्ञान के पूर्व व उत्तर काल में स्वरूप से अभाव हो जाये। जैसे स्वप्न को देखने के पूर्व स्वप्न का स्वरूप से अभाव है और देखने के पश्चात् सुषुप्ति या जाग्रत में भी स्वप्न का स्वरूप से अभाव हो जाता है। केवल ज्ञान काल में ही स्वप्न की प्रतीति होती है। इस प्रकार के अज्ञान जनित भ्रममात्र अत्यन्त असत् होने पर भी प्रतीति मात्र पदार्थों की ज्ञात सत्ता होती है। इसी प्रकार रज्जु सर्प और स्वप्न की भाँति समस्त व्यष्टि-समष्टि, स्थूल-सूक्ष्म कारण प्रपंच की ज्ञात सत्ता है। अर्थात् केवल ज्ञान काल में दृश्य की रज्जु सर्पवत् प्रतीति होती है। अज्ञान-काल में दृश्य नहीं रहता है। परन्तु सुषुप्ति या प्रलय में मिथ्या दृश्य के संस्कार रह जाते हैं जिससे सुषुप्ति से जाग्रत अवस्था प्रतीत होने पर सादृश्य दोष से रज्जु में सर्प की भाँति यह कल्पित प्रत्यभिज्ञा होती है कि यह वही देह दृश्य है जिसको सुषुप्ति के पूर्व देखा था। जैसे रस्सी के सामान्य रूप के ज्ञान और विशेष रूप के अज्ञान से वृत्ति उपहित साक्षी चेतन के आश्रित अविद्या में क्षोभ होकर अविद्या के सत्त्वगुण का परिणाम ज्ञान और तमोगुण का परिणाम सर्प एक साथ प्रतीत होने लगता है और रस्सी के सामान्य रूप का भी अज्ञान हो जाने पर सर्प का ज्ञान और सर्प का आकार अविद्या में लय हो जाता है। उसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था में सामान्य रूप सदंश का भी अज्ञान हो जाने से देह दृश्य का ज्ञान व आकार दोनों अविद्या में लय हो जाते हैं। ऐसा नहीं मानना चाहिये कि देह दृश्य का केवल ज्ञान ही सुषुप्ति में नहीं रहता है, दृश्य के आकार अवश्य शेष रह जाते हैं; क्योंकि जाग्रत में फिर वही पंचभौतिक देह

दृश्य दिखाई पड़ने लगता है। ऐसा विचार करना अविद्या का कारण है; क्योंकि जैसे रस्सी में सर्प या निद्रा में स्वप्न प्रतीति-काल में भी नहीं तो जब प्रतीत नहीं होते तब उनका आकार शेष कैसे रह सकता है। उसी प्रकार समस्त प्रपंच प्रतीति काल में भी नहीं तो सुषुप्ति में कैसे शेष रह सकता है। अस्तु, स्वप्न व रज्जु सर्पवत् जाग्रत जगत् की भी ज्ञात सत्ता है, इसी को दृष्टि-सृष्टि वाद भी कहते हैं। जैसे रस्सी में सर्प केवल रस्सी के अज्ञान का कार्य है और दण्ड, सर्प के अज्ञान सहित रस्सी के अज्ञान का कार्य है उसी प्रकार जाग्रत केवल ब्रह्म के अज्ञान का कार्य है और स्वप्न, जाग्रत के अज्ञान अर्थात् निद्रारूप दोष सहित ब्रह्म के अज्ञान का कार्य है। इसी कारण ब्रह्मज्ञान के बिना जाग्रत में मिथ्या बुद्धि नहीं हो सकती और जाग्रत का ज्ञान हो जाने पर बिना ब्रह्मज्ञान के ही स्वप्न का बाध हो जाता हैं। स्वप्न व जाग्रत में रस्सी में सर्प व दण्ड की भाँति केवल इतना ही भेद है। इसी से आत्म-भिन्न सब मिथ्या होने पर भी जाग्रत को व्यावहारिक सत्ता या ईश्वर सृष्टि और स्वप्न को प्रातिभासिक सत्ता या जीव-सृष्टि कहते हैं। भ्रम मात्र अविद्या का कार्य होने से जाग्रत, स्वप्न दोनों की ज्ञातसत्ता है। जो पारमार्थिक सत्य ब्रह्म है—उसकी अज्ञात सत्ता है; क्योंकि अज्ञात अवस्था में भी सत्य होने से उसका बाध नहीं होता। जैसे सर्प का आधार रस्सी का 'इदं' अंश सामान्य रूप है और सर्प का अधिष्ठान विशेष रूप रस्सी है; क्योंकि रस्सी के ज्ञान से ही सर्प का बाध होता है, रस्सी के सामान्य रूप के ज्ञान से सर्प का बाध नहीं हो सकता बल्कि प्रतीति होती है। उसी प्रकार समस्त स्थूल सूक्ष्म कारण

प्रपंच का आधार जीवों का सामान्य रूप विशेष चैतन्य चिदाभास है; क्योंकि 'मैं हूँ' ऐसी प्रतीति के पश्चात् ही दृश्य का भान है। सुषुप्ति, मरण, मूर्छा, समाधि और प्रलय में अहं का भान न होने से दृश्य का भी अभाव हो जाता है और जीवका विशेष रूप सामान्य चैतन्य आत्मा ब्रह्मरूप कूटस्थ स्वयंप्रकाश नित्य मुक्त व्यापक परमानन्द घन आत्मा सर्व प्रपंच का अधिष्ठान है; क्योंकि ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान होने पर अध्यस्त प्रपंच का बाध हो जाता है जिसके ज्ञान से अध्यस्त का बाध हो जाता है वही अधिष्ठान है और जिसके ज्ञान से अध्यस्त का अध्यास हो वह आधार है। जैसे रस्सी के सामान्य रूप का सत्य विशेष रूप रस्सी है और कल्पित विशेष रूप सर्प है उसी प्रकार जीव के सामान्य रूप चिदाभास का सत्य विशेष रूप या लक्ष्यार्थ कूटस्थ चैतन्य आनन्द व्यापक शुद्ध नित्य मुक्त आत्मा है और कल्पित विशेष रूप देह व दृश्य है। अस्तु, जीव ही अपने सत्य विशेष रूप से देह दृश्य का अधिष्ठान भी है और सामान्य रूप से आधार भी है और कल्पित विशेष रूप से देह दृश्य भी है और द्रष्टा भी स्वयं है, क्योंकि जहाँ चेतन अधिष्ठान होता है वहाँ स्वप्न की भाँति द्रष्टा वही होता है, जहाँ जड़ अधिष्ठान होता है वहाँ द्रष्टाभिन्न होता है। जैसा कि विचार-सागर में कहा है कि—जीव जग ईश होय माया के प्रभा से तूही जैसे रज्जू साँप, सीप रूप होय प्रभासी है।' जीव का सामान्य रूप ही अज्ञान और ज्ञान का अभिमानी है। परन्तु जीव का सत्य विशेष रूप सच्चिदानन्द सामान्य चेतन ज्ञान अज्ञान का आश्रय अधिष्ठान है, अभिमानी नहीं। अभिप्राय यह है कि ब्रह्माकार वृत्ति का सदा से अभाव शुद्ध-चेतन-परब्रह्म में भी है और जीव के

सामान्य रूप साभास अविद्या या अन्तःकरण में भी सदा से अभाव है। परन्तु जीव का विशेष रूप लक्ष्यार्थ शुद्ध-चेतन-संशय विपर्यय से रहित नित्य, मुक्त, ज्ञानघन है, इस कारण वहाँ ब्रह्माकार वृत्ति की इसी प्रकार आवश्यकता नहीं जैसे सूर्य में दीपक की आवश्यकता नहीं और अद्वैत व्यापक स्वयं प्रकाश होने से शुद्ध ब्रह्म में सामान्य विशेष भाव परमार्थ रूप से सम्भव नहीं। अविद्या विशिष्ट चेतन में ही विशेष रूप का अज्ञान और सामान्य रूप का ज्ञान है। अविद्या जनित सूक्ष्म स्थूल समस्त प्रपंच अविद्या का दूध, दहीवत परिणाम और रज्जु, सर्पवत् चेतन का विवर्त है। ज्ञान से निवृत्त हो जाने के कारण सत से विलक्षण है और प्रपंच का बन्ध्या-पुत्रवत् अत्यन्ताभाव होने पर भी उसकी स्वप्न और मृगजलवत् प्रतीति होती है इस कारण असत् से भी विलक्षण है; क्योंकि असत् उसको कहते हैं जो आकाश के पुष्पवत् अत्यन्त अभाव रूप हो और किसी काल में भी प्रतीत न हो। अस्तु, अविद्या का परिणाम चेतन का विवर्त अत्यन्त असत् होने पर भी अज्ञान पर्यन्त प्रतीत होने के कारण सत् असत् से विलक्षण इस समस्त प्रपंच व अज्ञान की अनिर्वचनीय ख्याति वेदान्त शास्त्र का सिद्धान्त है। अधिष्ठान और अध्यस्त में सादृश्य न होने पर भी अज्ञान मात्र से भी अध्यास हो जाता है जैसे अरूप, अनाम, निराकार जीव को अपने में अज्ञान से शरीर का अध्यास हो रहा है कि मैं स्थूल हूँ, दुर्बल हूँ, वृद्ध हूँ, युवा हूँ, पुरुष हूँ, स्त्री हूँ अथवा ब्राह्मण हूँ, शूद्र हूँ। यद्यपि जीव और शरीर में सादृश्यता नहीं है। आकाश में भी नीलमा का अध्यास जैसे केवल दूरत्व दोष से होता है उसी प्रकार निज स्वरूप सर्वाधिष्ठान आत्मा में केवल स्वरूप को ग्रहण

करने वाली वृत्ति का अभाव रूप अविद्या दोष से समस्त प्रपंच की विवर्त रूप से अनिर्वचनीय मिथ्या प्रतीति हो रही है। अध्यास दो प्रकार का होता है एक ज्ञानाध्यास दूसरा अर्थाध्यास। अविद्या के सत्त्वगुण के परिणाम भ्रान्ति ज्ञान को ज्ञानाध्यास कहते हैं और तमोगुण के परिणाम भ्रान्ति ज्ञान के विषय को अर्थाध्यास कहते है।

प्रपञ्च का शुद्ध चेतन में स्वरूप अध्यस्त है जैसे कल्पित सर्प का रस्सी में स्वरूप अध्यस्त हैं। और चेतन का प्रपञ्च में केवल सम्बन्ध अध्यस्त है स्वरूप अध्यस्त नहीं, जैसे रस्सी का सर्प में केवल सम्बन्ध अध्यस्त है स्वरूप अध्यस्त नहीं। प्रपञ्च रज्जु सर्पवत् असत् है और पंच विषय महान दुःख रूप हैं।

परन्तु जैसे लाल पुष्प के संसर्ग से स्फटिक मणि लाल भासने लगती है, अथवा जैसे चुम्बक के संसर्ग से लोहे में गति उत्पन्न हो जाती है अथवा जैसे स्वप्न द्रष्टा के संसर्ग से स्वप्न के देहों में सत्ता, चेतनता प्रतीत होने लगती है उसी प्रकार सत्, चित् आनन्द सर्वगत निज स्वरूप आत्मा की सत्ता से असत् प्रपञ्च सत्य भासता है और आत्मा की चेतनता के संसर्ग से जड़ अन्तःकरण चेतन भासता है और आत्मा के आनन्द के संसर्ग से अनित्य दुःख रूप पञ्च विषय सुख रूप भासते हैं।

यही आत्मा का प्रपञ्च से संसर्गाध्यास है। संसर्गाध्यास की ज्ञान से निवृत्ति हो जाने पर प्रपञ्च में स्वप्नवत् मिथ्या बुद्धि और विषयों में दुःख बुद्धि और स्थूल सूक्ष्म शरीरों में अनात्म जड़ बुद्धि हो जाती है। वह तत्त्ववेत्ता स्वप्न में भी अनात्मा शरीर में आत्मबुद्धि और मिथ्या दुःख रूप प्रपञ्च में सत्य व सुख बुद्धि नहीं करता। सर्व प्रपञ्च से वह परम विरक्त हो जाता है। स्थूल शरीर

के नाश होने से स्थूल शरीर का धर्म मृत्यु अज्ञान से अपने स्वरूप आत्मा में भासता है कि मैं मर जाऊँगा। निज स्वरूपआनन्दरूप होने पर भी यह भान नहीं होता कि मैं आनन्द रूप हूँ; क्योंकि दु:ख रूप अनात्मा देह का आत्मा में अध्यास हो रहा है, इस कारण सूक्ष्म देह का धर्म सुख दु:ख अपने में मानकर ऐसा ज्ञान होता है कि मैं सुखी व दु:खी हूँ। कारण देह अज्ञान का अपने स्वरूप आत्मा में अध्यास होकर यह ज्ञान होता है कि मैं अज्ञानी हूँ और सुषुप्ति में जड़ होकर सोता रहा। अध्यास के कारण यह नहीं विवेक है कि यदि मैं सुषुप्ति में जड़ हो जाता तो सुषुप्ति का ज्ञान कैसे होता। अस्तु, असत् जड़ दु:खरूप स्थूल सूक्ष्म कारण देहों का निजस्वरूप सच्चिदानन्द आत्मा में अध्यास के कारण यह ज्ञान नहीं होने पाता कि मैं सच्चिदानन्द नित्य मुक्त हूँ। उलटा यह भ्रान्ति ज्ञान होता है कि मैं जन्मने मरने वाला हूँ सुखी, दुखी अज्ञानी हूँ। इस प्रकार के अनात्मा के आत्मा में अध्यास को स्वरूपाध्यास कहते हैं। अधिष्ठान आत्मा के ज्ञान से अनात्मा के स्वरूप की निवृत्ति हो जाती है। इस कारण अनात्मा का आत्मा में स्वरूपाध्यास है और अनात्मा के ज्ञान से आत्मा की निवृत्ति नहीं होती केवल आत्मा का भान न होकर आत्मा की सत्ता स्फूर्ति अध्यस्त कल्पित देह दृश्य में भासती है। इस कारण आत्मा का अनात्मा में केवल संबन्धाध्यास या संसर्गाध्यास है। इस प्रकार के परस्पर के अध्यास को अन्योन्याध्यास कहते हैं। इसी प्रकार जीव के सामान्य रूप साभास अविद्या या अन्तःकरण और विशेष रूप कूटस्थ आत्मा में अन्योन्याध्यास है। अर्थात् साभास अविद्या का आत्मा में स्वरूपाध्यास है और कूटस्थ

आत्मा का साभास अविद्या में सम्बन्धाध्यास है। इसी प्रकार ईश्वर के सामान्य रूप साभास माया और विशेष रूप ब्रह्म में अन्योन्य अध्यास है। साभास माया का ब्रह्म में स्वरूपाध्यास है और ब्रह्म का साभास माया में सम्बन्धाध्यास है। ब्रह्म में सप्रपंचत्व धर्म अनादि अध्यस्त होने से प्रातिभासिक है और ज्ञान से निवृत्त हो जाने के कारण सान्त है और निष्प्रपंचत्व धर्म पारमार्थिक होने से अनादि अनन्त है।

व्यष्टि स्थूल सूक्ष्म कारण संघात का अधिष्ठान आत्मा है और समष्टि स्थूल सूक्ष्म कारण संघात का अधिष्ठान ब्रह्म है, जिनमें घटाकाश महाकाशवत् सदा से अभेद है। व्यष्टि, समष्टि-स्थूल-सूक्ष्म, कारण-प्रपंच का अधिष्ठान ब्रह्म से ठूंठ पुरुषवत् बाध करके अभेद है; क्योंकि कल्पित अधिष्ठान रूप होता है। माया समुद्रवत् है और अविद्या तरंगवत् है। अविद्या जब मन बुद्धि रूप से फुरती है तब अन्तःकरण कहलाती है। अफुर अवस्था में वही मल विक्षेप आवरण से युक्त अन्तःकरण अविद्या कहलाता है। समुद्र रूपी माया को अवकाश देने वाला महाकाश रूपी ब्रह्म है जसका तरंगरूपी अविद्या को अवकाश देने वाले तरंगाकाश रूपी कूटस्थ आत्मा से सदा से अभेद है। अविद्या रूपी तरंग का भी माया रूपी समुद्र से अभेद है और चूँकि माया रूपी समुद्र मृगजल का समुद्र है, वास्तविक नहीं। इस कारण माया-रूपी मृग जल समुद्र की भी अवकाश देनेवाले महाकाश रूपी ब्रह्म से बाध करके एकता है; क्योंकि अध्यस्त अधिष्ठान रूप ही होता है। वही अद्वैत शुद्ध ब्रह्म कल्पित व्यष्टि, स्थूल, सूक्ष्म-कारण देहों में आभास द्वारा अभिमानी बनकर जाग्रत में विश्व स्वप्न में

तेजस और सुषुप्ति में प्राज्ञ कहलाता है और तीनों अवस्थाओं का साक्षी होने से तुरीय आत्मा कूटस्थ कहलाता है और समष्टि स्थूल शरीर में आभास द्वारा विराट व समष्टि सूक्ष्म शरीर में हिरण्यगर्भ और समष्टि कारण अव्याकृत में आभास द्वारा ईश्वर कहलाता है और सर्व का अधिष्ठान होने से ब्रह्म, अमात्र परमात्मा कहलाता है। यद्यपि ब्रह्म को एक भी नहीं कह सकते हैं; क्योंकि दूसरा है ही नहीं। रात की अपेक्षा से दिन कहा जाता है। सूर्य में कभी रात्रि हुई ही नहीं, फिर सूर्य में दिन कैसे कहा जा सकता है। उसी प्रकार परमार्थ में सूर्य में रात्रि की भाँति दूसरा यह अनात्म प्रपंच हुआ ही नहीं, फिर ब्रह्म को एक कैसे कहा जाये। परमार्थ में अद्वैत ब्रह्म से भिन्न सूर्य में रात्रि की भाँति कभी कुछ उत्पन्न ही नहीं हुआ। इसी कारण परमार्थ दृष्टि से अजात वाद है। परन्तु तीनों काल में मृगजल की भाँति न होने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से जीवन्मुक्त तत्ववेत्ता पण्डित के अन्तःकरण को भी प्रारब्ध पर्यन्त दृश्य प्रत्यक्ष भासता है।

अज्ञानी को दृश्य सत्य भासता है इस कारण वह द्वैतवादी है। ज्ञानी को इस प्रकार भासता है जैसे शरीर के साथ छाया भासती है। छाया के साथ होने पर भी जैसे कोई अपने को दो नहीं मान लेता, यद्यपि एक भी कहते नहीं बनता; क्योंकि दूसरी छाया प्रत्यक्ष है। परन्तु द्वैत भी नहीं माना जा सकता; क्योंकि छाया मिथ्या है। अथवा जैसे स्वप्न में स्वप्नद्रष्टा एक नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह निद्रा से स्वप्न में विवर्त रूप से अनेक हो गया है, परन्तु दो या अनेक भी नहीं कह सकते; क्योंकि अनेकता निद्रा जनित कल्पित है। अस्तु, जैसे छाया सहित पुरुष

को या स्वप्न में अनेक रूप धारण करने वाले स्वप्न द्रष्टा को एक या दो न कह कर अद्वैत कहा जा सकता है। इसी प्रकार अविद्या मात्र प्रपंच छाया या स्वप्नवत् ज्ञानी के अन्तःकरण को भासता है। परन्तु मिथ्या होने से उसको द्वैत बुद्धि नहीं होती। मिथ्या दृश्य के प्रतीत होने पर भी वह अद्वैतवादी होता है; क्योंकि छाया की भाँति प्रपंच की गणना ही नहीं करता और निज स्वरूप को एक भी नहीं कहता है; क्योंकि दूसरा भासता है। इस कारण एक और दो से रहित अद्वैतवाद पण्डितों का सिद्धान्त है। यद्यपि आत्मा शब्द की शक्ति वृत्ति से परे है, परन्तु लक्षणा वृत्ति से बोध हो जाता है। इसी कारण जब वनयात्रा में ग्राम की स्त्रियों ने सीताजी से सच्चिदानन्द राम के विषय में पूछा कि यह तुम्हारे कौन हैं 'तो निज पति कहेऊ तिन्हहि सिय सयननि'। सयन अर्थात् लक्षणा तीन प्रकार की होती है। एक जहत लक्षणा है जिसमें वाच्यार्थ का पूरा त्याग करके विलक्षण अर्थ का ग्रहण हो जैसे सड़क पर भीड़ देखकर कोई कहे कि आज सड़क खूब चल रही है। इस वाक्य के शब्दार्थ का त्याग कर लक्ष्यार्थ यह ग्रहण किया जायेगा कि सड़क पर यात्री खूब चल रहे हैं। जहाँ वाच्य यानी शक्यार्थ का किसी अंश में भी ग्रहण न हो सके वह जहत् लक्षणा है। अर्थात् जहत् में लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ से भिन्न होता है। इस प्रकार की जहत् लक्षणा से जीव ईश्वर की एकता असम्भव है। क्योंकि दोनों के वाच्यार्थ में साभास अविद्या व माया के अतिरिक्त कूटस्थ और ब्रह्म भी है जिसका त्याग होकर एकता किसकी किससे होगी जब कि और कुछ शेष नहीं बचता है। अतः जहत

लक्षणा से जीव ईश्वर की एकता का बोध नहीं हो सकता है।

दूसरी अजहत् लक्षणा है जिसमें वाच्यार्थ का पूरा ग्रहण हो और विलक्षण अर्थ भी ग्रहण हो। जैसे कोई कहे भूरा दौड़ता है भूरा शब्द का अर्थ एक प्रकार का रंग है जिसमें दौड़ना सम्भव नहीं। इसका लक्ष्यार्थ यह हुआ कि भूरे रंग का कुत्ता दौड़ता है। अस्तु, इसमें शब्दार्थ से अधिक अर्थ कुत्ता ग्रहण हुआ। जहाँ शक्य व अशक्यार्थ दोनों का ग्रहण हो वहाँ अजहत् लक्षणा होती है। अजहत् लक्षण से भी जीव ईश्वर की एकता असम्भव है; क्योंकि सम्पूर्ण वाच्यार्थ की परस्पर इसी प्रकार एकता नहीं हो सकती जैसे घट सहित आकाश की मठ सहित आकाश में एकता असम्भव है; क्योंकि घट, मठ उपाधियों के नाम रूप क्रिया में भेद होने से एकता नहीं हो सकती और अजहत् लक्षणा में वाच्यार्थ का पूर्ण रूप से ग्रहण है। इतना ही नहीं और अधिक का भी ग्रहण है। जीव ईश्वर के वाच्यार्थ में कूटस्थ व ब्रह्म भी है जिससे अधिक और कुछ है नहीं जिसका ग्रहण हो सके।

अतः अजहत् लक्षणा द्वारा भी जीव ईश्वर की एकता असम्भव है। तीसरी भाग-त्याग लक्षणा है जिसमें वाच्यार्थ के एक अंश का ग्रहण और एक अंश का त्याग होता है।

इसी को भाग-त्याग या जहतऽजहत् लक्षणा कहते हैं जैसे घटाकाश मठाकाश है। इनके वाच्यार्थ में से घट मठ का बाध करके केवल आकाश मात्र का ग्रहण है। इसी प्रकार जीव के वाच्यार्थ में साभास व्यष्टि, स्थूल-सूक्ष्म कारण शरीर का त्याग करके अधिष्ठान कूटस्थ का ग्रहण है और ईश्वर के वाच्यार्थ में साभास

समष्टि, स्थूल-सूक्ष्म कारण शरीर का बाध करके अधिष्ठान ब्रह्म का ग्रहण है। जैसे घट मठ का बाध करने पर आकाश मात्र एक है। उसी प्रकार साभास अविद्या व माया के बाध होने पर कूटस्थ ब्रह्म रूप सत्ता से होने से कूटस्थ का ब्रह्म से मुख्य समानाधिकरण है। व्यष्टि-समष्टि, स्थूल-सूक्ष्म कारण उपाधियों का अध्यस्त होने से ठूंठ पुरुषवत् ब्रह्म से बाध समानाधिकरण है, कारण अविद्या की स्थूल अवस्था को स्थूल प्रपंच और सूक्ष्म अवस्था को अपंचीकृत सूक्ष्म जगत कहते हैं। जो पाँच कर्मेन्द्रिय पाँच ज्ञानेन्द्रिय पंच-प्राण और मन बुद्धि सतरह तत्वों का समूह है। स्थूल देह को अन्नमय कोश भी कहते हैं। पंच कर्मेन्द्रियाँ और पंचप्राण को मिलाकर प्राणमय कोश व पंच ज्ञानेन्द्रियाँ व मन को मिलाकर मनोमय कोश और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और बुद्धि को विज्ञानमय कोश कहते हैं। प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय तीन कोश सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत हैं। अविद्या को कारण शरीर कहते हैं जिसको आनन्दमय कोश भी कहते हैं। व्यष्टि शरीर व कोश जीव के हैं और समष्टि शरीर व कोश ईश्वर के हैं। अस्तु, सारा स्थूल-सूक्ष्म कारण प्रपंच अविद्या का स्वरूप है। जैसे स्पप्न में स्वप्नान्तर जो देखा जाता है, वह निद्रा का स्वरूप है, परन्तु स्वप्नान्तर में जब-तक रहते हैं तबतक सत्य मानते हैं। और जब स्वप्न में जाग कर आते हैं तब स्वप्नान्तर को निद्रा रूप असत् मान लेते हैं, परन्तु स्वप्न को सत्य मान बैठते हैं और जब निद्रा टूटने पर स्वप्न से जाग्रत में आते हैं तब स्वप्न को भी असत्य निद्रा जनित मान लेते हैं। परन्तु जैसे स्वप्नान्तर में अर्थात् तीसरे स्वप्न में मोहवश स्वप्न नम्बर तीन को सत्य मानते थे और स्वप्न नम्बर दो को

दूसरे स्वप्न में सत्य मानते थे। उसी प्रकार मोहवश अब जाग्रत को अर्थात् स्वप्न नम्बर एक को सत्य मान रहे हैं। जैसे स्वप्न नम्बर तीन में स्वप्न नम्बर दो नहीं रहता अथवा स्वप्न नम्बर एक में स्वप्न नम्बर दो नहीं रहता ठीक उसी प्रकार स्वप्न नम्बर दो व तीन में स्वप्न नम्बर एक नहीं रहता है। जैसे स्वप्न नम्बर दो व तीन देखने के पहले नहीं थे और बाद में नहीं रहते उसी प्रकार स्वप्न नम्बर एक भी देखने के पहले नहीं था और देखने के बाद नहीं रहता। देखने के काल में ही प्रतीत होता है, यद्यपि देखने के काल में भी नहीं है। जैसे मृगजल दोपहर में जब सूर्य किरणों में प्रतीत होता है तब भी नहीं है। सायंप्रातः जब प्रतीत नहीं होता तब कैसे रहेगा। परन्तु अज्ञान निद्रा के कारण "यदपि असत्य देत दुख वहुई" असत्य दुख रूप तीनों स्वप्नों का जानने वाला द्रष्टा तीनों स्वप्नों के अभाव हो जाने पर भी केवल ज्ञानरूप से शेष रहता है। ज्ञेय, दृश्य की दृष्टि से ही आत्मा को ज्ञात द्रष्टा कहते हैं, परन्तु ज्ञेय कल्पित है इस कारण आत्मा भी परमार्थ रूप से ज्ञाता नहीं ज्ञान स्वरूप है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, ज्ञेय, दृश्य का अभाव होने पर जो स्वरूप आत्मा शेष रह जाता है उसी सर्वाधिष्ठान मन वाणी के अविषय स्वयं प्रकाश निर्द्वैत परमानन्द घन तत्व को पण्डित जन अपना स्वरूप समझते हैं। जिसके अज्ञान पर्यन्त स्वप्न नम्बर एक मिथ्या होने पर भी सत्य भासता है। परन्तु जिसका अज्ञान निवृत्त हो गया है वह स्वप्नवत् जगत का क्यों शोक करेगा। स्वप्न के शरीर तो आदि अन्त में अभाव रूप होते हैं। मध्य में भी मिथ्या होते हैं। फिर उन स्वप्न देहों के लिये क्या चिन्ता करना। यदि चिन्ता करने से मृगजल, छाया और

स्वप्न देह सदा बने रहे तो अकेले नहीं सबको मिलकर खूब चिन्ता करनी चाहिये। परन्तु स्वप्न तो तीनों काल में नहीं। केवल मनो-मात्र प्रतीत होता है। मन में जो पदार्थ सोचते हैं वे मृदु मनोराज हैं और जो निद्रा में स्वप्न देखते हैं वह मध्य मनोराज है और जो यह जाग्रत जगत देखते हैं, यह दृढ़ मनोराज है, फिर सदा कैसे रह सकता है। तब स्वप्न शरीरों के लिये क्यों चिन्ता की जाये। जब देह को—

तू नहीं सत्य माने, संसार को भी ज्यों स्वप्न जाने।
तो दुख तुझको कैसे सतावें, अज्ञान से तू दुख को उठावे॥

जैसे तरंग बुदबुदों के नाश होने से जल का नाश नहीं होता अथवा जैसे भूषणों के नाश से स्वर्ण नाश नहीं होता और मृगजल के नाश से मरुभूमि का नाश नहीं होता और घट के नाश होने से घटाकाश का नाश नहीं होता और स्वप्न नम्बर तीन और दो नाश होने से द्रष्टा नाश नहीं होता उसी प्रकार स्वप्न नम्बर एक के सर्व स्थूल-सूक्ष्म कारण देहों के नाश होने पर भी नित्य सर्वगत आत्मा का नाश नहीं होता। इस कारण पण्डित जन जिनके प्राण चले गये हैं उनका शोक नहीं करते। आत्मज्ञान हो जाने पर जाग्रत में भी जब स्वप्न नम्बर दो व तीन की भांति मिथ्या बुद्धि दृढ़ हो गई तो स्वप्न के जीवित प्राणी भी कल्पित हैं फिर उनके लिये शोक क्यों किया जाये। स्वप्न में जीवित और मरे हुए सर्व अनहुए कल्पित हैं। अस्तु, परमार्थ में न किसी का जन्म, है, न मृत्यु है फिर हर्ष शोक कैसा। व्यावहारिक दृष्टि से यदि कोई अज्ञानी कुमार्गी अधर्मी दुखी है तो पण्डित लोग कर्तापन के अभिमान से रहित होकर उसके सुधार के लिये यथाशक्ति प्रयत्न

स्वप्नवत् कर देते हैं शोक नहीं करते हैं। जैसे सूर्य अस्त होने पर कितना भी दिन के लिये शोक किया जाय, परन्तु दिन नहीं रुक सकता उसी प्रकार प्रारब्ध समाप्त होने पर कितना भी शोक किया जाय शरीर नहीं रह सकते हैं। जैसे जहाँ प्रातःकाल होगा वहाँ संध्याकाल भी अवश्य होगा। फिर इस बिना उपाय वाले विषय में शोक व्यर्थ है। गुरुजनों व सम्बन्धियों के मारने से जितना पाप होगा कहीं उससे अधिक स्वधर्म त्याग करने से पाप होगा। अस्तु, आत्म दृष्टि को छोड़ो। स्वधर्म को देखते हुए भी मरने का शोक नहीं करना चाहिये ; क्योंकि इस प्रकार अपने आप प्राप्त हुआ न्याय पूर्वक युद्ध स्वर्ग का खुला हुआ द्वार क्षत्री के लिये है। क्षत्री के लिये न्याय पूर्वक युद्ध में मरना व मारना सब से बड़ा पुण्य है पाप नहीं। युद्ध में आकर हट जाना सब से बड़ा पाप होगा। युद्ध में मरने या मारने से स्वर्ग, कीर्ति और आदर्श की प्राप्ति होगी और भाग जाने से नरक व अपकीर्ति की प्राप्ति होगी और यदि आत्मज्ञानी हो तो भी आदर्श बिगड़ जायगा। इतना अवश्य है कि स्वधर्म को ईश्वरार्थ स्वामी सेवक भाव से स्वार्थ को छोड़ कर निष्काम भाव से कर्तव्य समझकर पालन करना चाहिये। क्योंकि सकाम कर्म निष्काम कर्म से तुच्छ है। यद्यपि निषिद्ध कर्म से सकाम कर्म उत्तम है। परन्तु जो पाप से डरता है उसको सकाम कर्म भी तुच्छ समझना चाहिये। विजय व राज्य व सुखों की इच्छा नहीं है तभी तो निष्काम भाव से स्वधर्म पालन किया जा सकता है। विषय लोलुप कभी निष्काम नहीं हो सकता। उसके सभी पुरुषार्थ देखे व सुने हुए पदार्थों के भोगने के लिये हुआ करते हैं। जो त्रिलोकी के

राज्य को भी सुखहीन असार जानता है वही निष्कामी हो सकता है। यदि सुख-दुख हानि-लाभ और जय-पराजय को समान समझकर युद्ध किया जाय तो मारने का भी पाप नहीं लगेगा। जैसे मालिक की आज्ञा से माली को बाग के वृक्षों को काटने में पाप नहीं लगता। अर्थात् मालिक के दण्ड का भागी नहीं होता; क्योंकि मालिक की आज्ञा को पालन किया है। यदि मालिक की आज्ञा के विरुद्ध स्वार्थवश माली चोरी से वृक्ष काटता है तो पाप करता है और मालिक के दण्ड का भागी होगा। इसी प्रकार स्वामी सेवक भाव से कर्तव्य को स्वार्थ रहित होकर पालन करने में पाप नहीं लगता न्यायपूर्वक युद्ध प्राप्त होने पर क्षत्री के लिये मारना या मर जाना ईश्वर की आज्ञा है। फिर पाप समझना उचित नहीं। ऐसा असम्भव है कि करने के लिये स्वामी आज्ञा भी दे और स्वार्थ रहित होकर आज्ञा पालन करने पर सेवक को दण्ड भी दे। यदि ऐसा मान भी लिया जाये तो ईश्वर अन्यायी हो जायेगा। ऐसा किसी आस्तिक को मान्य नहीं है। यदि ईश्वर न्यायी है तो जज के फैसले पर सन्तोष करना चाहिये। चाहे अपने अनुकूल उसका फैसला हो अथवा प्रतिकूल। अतएव जब परमेश्वर सर्वान्तर्यामी परम कृपालु परम हितैषी, अद्वितीय न्यायाधीश मान्य हैं, जब उसके सारे फैसले हमारे हित के लिये ही होते हैं, चाहे वे सुखमय या दुखमय हों, तो सुख को अनकूल मानकर हर्ष और दुख को प्रतिकूल मानकर विषाद क्यों करना चाहिये। वैद्य कड़ुई और मीठी औषध दोनों ही रोगी के हित के लिये खिलाता है। उसी प्रकार भवरोग वैद्य भगवान के द्वारा भवरोग ग्रसित प्राणियों को सुख दुख रूपी मीठी कड़ुई औषध खिलाई जाती है। जिससे जन्म रूप फल देने वाले पाप पुण्य रूप प्रारब्ध

का भोग से नाश हो जाता है। परन्तु प्राणी इस रहस्य को न समझकर सुख-दुख में हर्ष विषाद करते रहने के कारण अध्यात्म ज्ञान का अधिकारी नहीं हो पाता जिस ज्ञान के द्वारा संचित क्रियमाण कर्मों का भी नाश हो सकता है। प्रारब्ध कर्म तो भोग से नाश हो जाते हैं, परन्तु संचित, क्रियमाण कर्म आत्मज्ञान बिना नाश नहीं हो सकते हैं। जैसे कोई कैदी जेल में किसी अपराध में दण्ड भोगने जाता है। उस अपराध को भोगते हुए वह जेल में अनेक नवीन अपराध करने लगे तो जेलखाने से उसकी निवृत्ति कभी नहीं होगी। ठीक उसी प्रकार सुख-दुख रूप प्रारब्ध भोग भोगते हुए मूर्ख प्राणी शुभा-शुभ नवीन कर्मों में फलाकांक्षा पूर्वक रत रहता है, जिस कारण पुनः-पुनः जन्म-मृत्यु को प्राप्त होता रहता है। यदि सुख-दुख, हानि-लाभ को समान समझते हुए प्रारब्ध को धैर्य पूर्वक भोग ले, और जीवन में सारे कर्म ईश्वरार्थ करे तो उसका अन्तःकरण शुद्ध होकर परमात्मा के साक्षात्कार के योग्य हो जाता है। और परमात्मा में अभेद् निष्ठा से जन्म मृत्यु से छुटकारा पाने पर उसको परमपद कैवल्य की भी प्राप्ति हो जाती है। जैसे रथी का सेवक सारथी रथ को अपने स्वामी के लगाम युक्त घोड़ों द्वारा स्वामी की आज्ञानुसार ही चलाता है स्वामी के रथ व घोड़ों की देख रेख व सेवा को अपने स्वामी की ही सेवा समझता है। इसी प्रकार निष्काम कर्म योगी वही है जो शरीर रूपी रथ व इन्द्रियाँ रूपी घोड़ों और मनोरूपी लगाम को भी अपने सहित इस सर्व समाज को अपने स्वामी अनन्त-कोटि ब्रह्माण्ड नायक भगवान का समझता है जो सर्व शरीर रूपी रथों में रथीरूप से उसी प्रकार स्थाणुवत् आसीन है जैसे सर्वघटों में आकाश स्थित है। निष्काम कर्मयोगी स्वयम् सारथी की भाँति स्वामी

की आज्ञानुसार सारी चेष्टायें स्वामी की प्रसन्नता के लिये करता है। वह सर्वदा सर्वत्र ममत्वशून्य हानि-लाभ में समान रहते हुए प्रभु की सेवा में तत्पर रहता है। ऐसा ही कर्म योग का पंडित संसार से असक्त होकर मोक्ष का अधिकारी होता है। जैसा कि रामायण में भी कहा गया है कि :—

सेवक सेव्यभाव बिनु—भव न तरित उरगारि।
भजहु राम पद पंकज—अस सिद्धान्त विचारि ॥

ईश्वर पर विश्वास करने वाले निष्काम कर्मयोगी को हानि-लाभ में कदापि हर्ष शोक नहीं होना चाहिये, और यदि हर्ष शोक होता है तो ईश्वर पर विश्वास ही नहीं, सेवक सेव्य भाव ही दृढ़ नहीं। जब सेवक सेव्य भाव दृढ़ हो जाने से सर्वदा सर्वत्र हानि लाभ में सम, ममत्व से शून्य हो जाता है तब सांख्ययोग का अधिकारी होता है। क्योंकि 'ममता रत सन ज्ञान कहानी' उसी प्रकार निष्फल होगी ऊसर बीज बये फल यथा। जब सांख्ययोग में आत्मानुसन्धान द्वारा बुद्धि स्थिर हो जाती है तो स्वयं सुख का समुद्र हो जाने से संसारी सुखों की उसी प्रकार इच्छा नहीं रहती जैसे समुद्र को नदियों की कामना नहीं। परन्तु—जिमि सरिता सागर मह जाहीं—यद्यपि ताहि कामना नाहीं। उसी प्रकार प्रारब्धवश सुख दुःख रूपी नदियाँ ब्राह्मी स्थिति प्राप्त हुये पण्डित को भी प्राप्त होती रहती हैं जो स्वयं सुख का समुद्र है। परन्तु जैसे नदियों के आने से समुद्र में बाढ़ नहीं आती उसी प्रकार ब्रह्मनिष्ठ पण्डित भी सुख दुःख में हर्ष शोक को प्राप्त नहीं होता है। जैसे फूँक से सुमेरु पर्वत चलायमान नहीं हो सकता अथवा आँधी चलने पर आकाश नहीं हिल सकता उसी प्रकार जो बड़े से बड़े दुःखों से विचलित

नहीं होता वही पण्डित है। जैसे मिथ्या मृग-जल से मरुभूमि गीली नहीं हो सकती उसी प्रकार मिथ्या शरीर मन इन्द्रियों के मिथ्या विकारों से सत् आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। कर्म से निर्मित शरीर है, इससे प्रारब्ध भी शरीर का हो सकता है। आत्मा कर्म से निर्मित नहीं इससे प्रारब्ध भी आत्मा का नहीं हो सकता। शरीर का प्रारब्ध है इसलिये शरीर के धर्म सुख दुःख हो सकते हैं, आत्मा के नहीं। शरीर भी रज्जु के अज्ञान से उत्पन्न हुए कल्पित सर्प की भाँति आत्मा में अध्यस्त है। फिर प्रारब्ध और प्रारब्ध जनित सुख दुःखादि विकार भी आत्मा में अज्ञान से अध्यस्त सत्ता-शून्य हैं। अतः किसी के धर्म नहीं। शरीर के भी धर्म तब कहना चाहिये जब शरीर को सिद्ध कर ले। जैसे रज्जुसर्प में विष रस्सी का धर्म नहीं, सर्प का धर्म है; यह तब कहना चाहिये जब सर्प को सिद्ध कर ले। जब रस्सी में सर्प प्रतीति मात्र है, कभी हुआ ही नहीं, तो विष सर्प का धर्म कैसे माना जाय। अस्तु, जैसे विष और सर्प दोनों रस्सी के अज्ञान से रस्सी में अध्यस्त हैं उसी प्रकार देह व सुख दुःखादि धर्म अज्ञान से आत्मा में अध्यस्त हैं किसी के धर्म नहीं।

'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ईसावास्योपनिषद्)

क्या आत्मा भी कभी मरता है जो मरने का भय और शोक किया जाये ? स्थूल देह के नाश से सूक्ष्म देह का भी नाश नहीं होता फ़िर देही आत्मा का कैसे नाश होगा। जैसे ड्रायवर के उतर पड़ने पर ड्रायवर मर नहीं जाता और मोटर दौड़ने पर भी चेतन नहीं हो जाता, जड़ मुर्दा ही रहता है। इसी प्रकार स्थूल-शरीर रूपी मोटर से साभास सूक्ष्म-शरीर रूपी ड्रायवर निकलने पर मर

नहीं जाता, दूसरे मोटर में प्रवेश करके चेष्टा करने लगता है। स्थूल शरीर रूपी मोटर में जब तक साभास सूक्ष्म शरीर रूपी ड्रायवर रहता है तब तक स्थूल शरीर रूपी मोटर चलता फिरता है। परन्तु चलने फिरने पर भी स्थूल शरीर मोटर वत् जड़ मुर्दा है क्योंकि मुर्दा वत् वह न अपने को जानता है न दूसरे को जानता है। चेतन तो ड्रायवर रूपी सूक्ष्म शरीर भी नहीं। परन्तु लोहा जैसे अग्नि से गर्माहट उधार लेकर गर्म हो जाता है उसी प्रकार स्वयंप्रकाश आत्मा के आभास से जड़ सूक्ष्म शरीर अग्निमय लोहपिण्ड के समान चेतनमय हो जाता है। इसमें प्रश्न यह हो सकता है कि स्थूल शरीर क्यों नहीं चेतनमय हो जाता है? उसका समाधान यह है कि :—स्थूल शरीर पंचीकृत भूतों के तामसी भाग से उत्पन्न होने के कारण मलिन है और सूक्ष्म शरीर में अन्तःकरण अपंचीकृत भूतों के मिश्रित सत्त्वगुण से उत्पन्न होने से स्वच्छ है। इस कारण जैसे सूर्य सर्वत्र होने पर भी पत्थर में प्रतिविम्बित न होकर शीशा में स्वच्छ होने के कारण प्रतिविम्बित होता है। उसी प्रकार स्थूल शरीर में आत्मा प्रतिविम्बित नहीं होता अन्तःकरण रूपी शीशा में प्रतिविम्बित होता है। और जैसे अग्निमय लोहपिण्ड या आतिशी शीशा दूसरों को जलाता है उसी प्रकार चिदाभासयुक्त अन्तःकरण दूसरों को जानता है। अतः अन्तःकरण में चेतनता स्वाभाविक नहीं आत्मा की है। जैसे मोटर जब दौड़ता है तब भी मुर्दा है और जब ड्रायवर के उतर जाने से चेष्टा रहित हो जाता है तब भी मुर्दा है। और मोटर में बैठा हुआ मालिक मोटर के दौड़ने व चेष्टा रहित खड़े हो जाने पर भी जिन्दा है। उसी प्रकार साभास अन्तःकरण जब तक

स्थूल-शरीर में है तब तक स्थूल शरीर में चेष्टा होती रहती है परन्तु शरीर चेष्टा युक्त होने पर भी मुर्दा है। और जब साभास सूक्ष्म-शरीर स्थूल शरीर से प्रारब्ध समाप्त होने पर निकल जाता है तब स्थूल शरीर चेष्टा रहित हो जाता है तब भी मुर्दा है औ चलने फिरने पर भी मुर्दा था। और आत्मा रूपी मालिक सद सर्वदा आकाश वत् सर्वशरीररूपी घटों में विद्यमान रहता है साभास सूक्ष्म शरीर रूपी ड्रायवर तो स्थूल शरीर रूपी मोटरों प चढ़ता उतरता रहता है परन्तु आत्मा रूपी मालिक तो सदा जहां का तहा एकरस रहता है। सर्वगत आत्मा आकाश के समान जड़ और अनित्य नहीं है बल्कि नित्य और चेतन है क्योंकि निवृत्ति रहित और सर्व का प्रकाशक है। आकाश तो शोक तत्व वाला शून्य रूप है। परन्तु आत्मा शून्य का साक्षी और शोक से रहित परमानन्द घन है। यदि आत्मा भी शून्य हो तो शून्य जाना कैसे जाये। शून्य का दृष्टा आत्मा है शून्य दृश्य आत्मा नहीं हो सकता। धनादि से स्त्री पुत्रादि सम्बन्धी प्रिय हैं और सम्बन्धियों से भी प्रिय अपना स्थूल देह होता है। स्थूल देह से प्रिय कर्मे न्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियों से प्रिय ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और ज्ञानेन्द्रियों से प्रिय प्राण और प्राणों से प्रिय भी अन्तःकरण है क्योंकि ज अन्तःकरण शोक, मोह से अथवा शरीर के अधिक रो होने से अत्यन्त दुःखी होता है तो अपने दुःख निवारण के लिये अपने प्राणों का भी त्याग चाहता है। इससे सिद्ध हुआ कि प्राणों से भी अन्तःकरण प्रिय है। परन्तु अन्तःकरण से भी आत्मा प्रिय है क्योंकि सुषुप्ति अवस्था सर्व को प्रिय है जहाँ अन्तःकरण का अभाव हो जाता है। अतः सत् चेतन आत्

परम प्रिय होने से परमानन्द रूप है। यदि स्वतः आनन्द रूप न होता तो पंच विषयों से रहित सुषुप्ति में आनन्द कहाँ से आता जहाँ सर्व के अभाव का साक्षी केवल आत्मा रह जाता है। परन्तु यह आत्मा दुर्विज्ञेय है। इस कारण विषयासक्त को उसको सुनने कहने और देख लेने पर भी उसका बोध नहीं हो सकता है। सुषुप्ति में अपने सुख स्वरूप का सबको अभेद रूप से दर्शन होता है परन्तु बहिर्मुख जान नहीं पाता। जैसे कोई पागल पुरुष सदा स्त्री के वस्त्र पहनने का आदी हो गया हो। और सोते समय स्त्री के वस्त्रों को उतार कर अपने को पुरुष रूप में भी देखता हो। परन्तु पागलपन के कारण स्त्री भावना के संस्कार नाश न कर पाता हो और जागकर स्त्री के वस्त्रों को पहन कर अपने को स्त्री मानने लगता हो। ठीक इसी प्रकार जीवात्मा सत् चेतन आनन्द है परन्तु अविद्या से पागल होकर स्थूल सूक्ष्म कारण शरीर रूपी वस्त्रों को पहनते पहनते अपने वास्तविक स्वरूप को भूल गया है। यद्यपि जब दो शरीरों को छोड़ दिया और तीसरे शरीर रूपी वस्त्र को धारण नहीं किया तब सर्व द्वन्द्वों से रहित केवल सत् चेतन आनन्द रूप से शेष रह जाता है। परन्तु जब शरीर को पहन लेता है तब पागल की भाँति उसी शरीर में अहन्ता करने लगता है। यद्यपि जैसे वह पागल पुरुष स्त्री के वस्त्रों को धारण कर लेने पर भी पुरुष ही रहता है स्त्री नहीं हो जाता उसी प्रकार अशरीरी सच्चिदानन्द आत्मा अविद्या से देह को धारण करने पर भी देह नहीं हो जाता। बिना आत्मानुसन्धान के आत्मनिष्ठा प्राप्त नहीं होती। परन्तु विषयासक्त के लिये आत्मानुसन्धान उतना ही कठिन है जितना

जाल में फँसे हुए पक्षी को उड़ना कठिन है। विष तो खाने से हानि पहुँचाता है परन्तु विषय ध्यान मात्र से जीव को चौरासी लक्ष योनियों में गिरा देते हैं, क्योंकि विषयों के ध्यान से आसक्ति और आसक्ति से काम और काम में विघ्न पड़ने पर क्रोध और क्रोध से सम्मोह और सम्मोह से स्मृति का नाश और स्मृति के नाश से बुद्धि का नाश और बुद्धि नाश से तिर्यक् स्थावर योनियों और नरकों की प्राप्ति होती है।

अज्ञानी विषयासक्त को देह व दृश्य में जल में मछली से भी अधिक आसक्ति होती है। मछली तो जल के लिये प्राण देती है, परन्तु जल को अपने से पृथक् मानती है। परन्तु जीव को देह में अत्यन्त आसक्ति होने से अभेद निष्ठा हो गई है। यद्यपि जीव का जल-तरंगवत् सहज सम्बन्धी ब्रह्म है। शरीर तो कपड़े के भाँति पृथक् है। विषयासक्त अज्ञानी देह दृश्य का सदा भाव चाहता है। परन्तु तत्वज्ञानी पण्डित प्रातिभासिक व व्यावहारिक देह दृश्य की मिथ्या प्रतीति का भी सदा के लिये अभाव चाहता है। यद्यपि अपने परमार्थ स्वरूप आत्मा में, सूर्य में अन्धकार की भाँति या दिन में रात की भाँति दृश्य का अत्यन्त अभाव देखता है। अज्ञानी देह व दृश्य के भान को जीवन और देह दृश्य के अभान को मृत्यु मानता है, परन्तु आत्मज्ञानी पण्डित देह व दृश्य के भान को ही मृत्यु और देह व दृश्य के भान से रहित परमार्थ स्वरूप आत्मा को चेतन (नित्य जीवन) जानता है जिसका अज्ञान मूर्ख को उसी प्रकार है जैसे सोते हुए पुरुष को जाग्रत जगत का अज्ञान होता है और जिस स्वप्न जगत को सोता हुआ सत्य मानता है उसको

जैसे जाग्रत नर असत जानता है। उसी प्रकार तत्व वेत्ता पण्डित समस्त प्रपंच को मिथ्या आकाशवत् शून्य समझता है और मूर्ख उसी मिथ्या जगत को सत्य मानता है और सदा अशान्त रहता है। तत्ववेत्ता पण्डित देह व दृश्य को अपने से पृथक् छायावत् मिथ्या समझकर देह में अहन्ता और दृश्य में ममता से शून्य होकर स्वयं परमानन्द रूप होने से सर्व भोगों की कामनाओं से रहित होकर परम शान्ति को प्राप्ति करता है। जैसे जिस काल में निद्रा टूट जाय उसी क्षण स्वप्न से छुटकारा होकर जाग्रत की प्राप्ति हो जाती है उसी प्रकार अन्त के काल में भी अर्थात् मृत्यु के निकट वृद्धावस्था में भी यदि आत्म-ज्ञान से अज्ञान नाश हो जाय तो अज्ञान के नाश होते ही देह व दृश्य से सदा के लिये छुटकारा होकर नदी समुद्रवत् सच्चिदानन्द ब्रह्म की अभेद रूप से प्राप्ति हो जाती है। जैसे निद्रा टूटने पर तेजस विश्व हो जाता है उसी प्रकार अज्ञान नाश होते ही विश्व ब्रह्म हो जाता है। जैसे शीशे पर बाल रख देने से शीशे में दरार प्रतीत होने लगती है उसी प्रकार अज्ञान से ब्रह्म रूपी दर्पण में जीव भाव की प्रतीति होती है। परन्तु जैसे बाल हटा लेने पर शीशा में दरार मिट जाती है उसी प्रकार अज्ञान के नाश होने पर जीव भाव नष्ट होकर केवल ब्रह्म शेष रह जाता है। अथवा जैसे आँख में अंगुली लगाकर देखने से आकाश में एक के दो चन्द्रमा प्रत्यक्ष होने पर भी प्रथम सत्य चन्द्रमा से भिन्न दूसरा चंद्र सत्य नहीं है। क्योंकि आँख पर से अंगुली हटा लेने पर कल्पित दूसरे चंद्रमा की पृथक् प्रतीति मिटकर केवल एक ही रह जाता है। उसी प्रकार अज्ञान रूपी अंगुली हट जाने पर ब्रह्म से भिन्न जीव

भाव मिटकर केवल सर्वात्मा ब्रह्म शेष रह जाता है। कारण यह है कि ब्रह्म से भिन्न जीव की पृथक् प्रतीति आकाश में दूसरे कल्पित चंद्रमा की भाँति अज्ञान जनित है। देह दृश्य भी उसी प्रकार ब्रह्म रूप चंद्रमा में अज्ञान से कल्पित प्रतीत होता है जैसे चंद्रमा में कालिमा कल्पित भासती है। चंद्रमा में तो कालिमा पृथ्वी की छाया है, परन्तु सर्वगत सर्वात्मा ब्रह्म रूपी चंद्रमा में देह दृश्य रूपी कालिमा अज्ञान जनित होने के कारण बिना बिम्ब का प्रतिबिम्ब है। जैसे प्रतिबिम्ब में मिथ्या बुद्धि हो जाने पर भी जबतक शीशा है प्रतिबिम्ब की कल्पित प्रतीति बराबर होती रहती है, परन्तु शीशा नाश होने पर फिर प्रतिबिम्ब की प्रतीति भी नहीं होती। इसी प्रकार उपाधि पर्यन्त ज्ञान होने पर प्रतीत होने वाले भ्रम को सोपाधि भ्रम कहते हैं। शीशे में प्रतिबिम्ब की भाँति ज्ञान होने पर भी मिथ्या देह दृश्य प्रारब्ध पर्यन्त प्रतीत होता रहता है। यही दृढ़ अपरोक्ष ब्रह्मज्ञानी पंडित की जीवन्मुक्त अवस्था है। प्रारब्ध क्षय हो जाने पर प्रतीति भी सदा के लिये समाप्त हो जाती है। यही उस तत्ववेत्ता की विदेहमुक्ति है। तत्ववेत्ता की दृष्टि में आत्मा भिन्न सारे अनात्मा प्रपंच का अज्ञान में मृत्तिका में घट की भाँति प्रागभाव है और अपरोक्ष आत्मज्ञान से सूर्य में अन्धकार की भाँति निज स्वरूप आत्मा में अत्यन्ताभाव है। विशेष रूप के अज्ञान से दृश्य की प्रतीति का नाम सृष्टि है और कुछ काल के लिये आत्मा के सामान्य रूप का भी अज्ञान हो जाने पर प्रतीति के लयको प्रलय कहते हैं। ज्ञान द्वारा सदा के लिये प्रतीति का अत्यन्ताभाव हो जाना ज्ञान प्रलय है। वस्तुतः उत्पत्ति,प्रलय भ्रम मात्र होने से न किसी की उत्पत्ति न किसी का

नाश है। परन्तु जैसे दीपक के प्रकाश द्वारा मोतियाबिन्दु से रहित निर्दोष नेत्र वाले को ही रात्रि में अपनी देह दिखाई पड़ सकती है उसी प्रकार विषयासक्ति रूपी मोतियाविन्दु से रहित शुद्ध अन्तःकरण वाले को ही सांख्य योय रूपी दीपक द्वारा अज्ञान अन्धकार का नाश होकर अपने वास्तविक सर्वगत निर्विकार आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान होता है। जैसे अन्धे को दीपक लाभदायक नहीं उसी प्रकार जो पुरुष वैभव के मद से अन्धा है और जिसका अन्तःकरण रूपी नेत्र मल रूपी माड़ा और विक्षेप रूपी मोतियाविन्दु से ढका हुआ है उसके लिये सांख्य योग कल्याणदायक नहीं। जो परम विरक्त शुद्ध सतोगुणी है वह इस आत्मज्ञान का अधिकारी है। रजोगुणी उपासना का और तमोगुणी कर्म का अधिकारी है। मानसिक कर्म होने से उपासना भी कर्मयोग के ही अन्तरगत है। एक पुरुष को चलने की थकावट से ज्वर हो गया। वैद्य ने उसे मोहनभोग खाने को बतलाया। वह मोहनभोग खाकर अच्छा हो गया। वह मोहनभोग को रोगनाशक समझ कर सब रोगियों को मोहनभोग खाने को बताने लगा। जिसका थकावट का ज्वर होता था उसका अच्छा हो जाता था। शेष मर जाते थे। इसी प्रकार जो चौरासी लक्ष योनियों का भ्रमण करते-करते थक गये हैं और संसार से परम विरक्त होकर बुभुक्षु की भाँति मुमुक्षु बन गये हैं। बुभुक्षु को जैसे जब तक भोजन नहीं मिलता तबतक बेचैन रहता है उसी प्रकार मुमुक्षु को भी जबतक मोक्ष प्राप्त नहीं हो जाता तबतक उसको दिन-रात चैन नहीं पड़ता। ऐसे मुमुक्षु जन ही इस सांख्य योग रूपी मोहन-भोग के अधिकारी हैं। जो माया के गुणों से उत्पन्न होने वाले कर्मों को अज्ञान से अपने ऊपर लादकर उनका कर्ता अपने को

समझता है, ऐसे अहंकारी, स्वार्थी, विषयासक्त को सांख्य योग का उपदेश नहीं करना चाहिये। जब वह कर्मयोग द्वारा विषयों से विरक्त हो जाय तब वह सांख्ययोग का अधिकारी हो जाता है। जैसे टिकट लेकर रेल गाड़ी पर बैठना चाहिये उसी प्रकार सिद्धि-असिद्धि में समत्व भाव रूप कर्म योग रूपी टिकट लेकर सांख्य-योग रूपी रेल पर बैठने से सुख पूर्वक विष्णु-परमधाम की अभेद रूप से प्राप्ति हो जाती है। रोगी पुरुष को औषध व पथ्य का त्याग करके घृत पान करना जैसे भयदायक है और औषध, पथ्य खाते हुए मरजाना भी श्रेष्ठ है। उसी प्रकार योगारूढ़ होने के पूर्व विषायसक्ति रूपी रोग पर्यन्त निष्काम कर्मयोग का त्याग करके सांख्ययोग को ग्रहण करना भयदायक है और स्वामी सेवक भाव से ईश्वरार्थ स्वधर्म पालन करते-करते मर जाना भी कल्याणकारक है। यदि विना आन्तरिक वैराग्य के विहित कर्मों का परित्याग भी कर दिया और विषय वासानाओं से भरा हुआ भी है तो वह उस दरिद्री की भाँति ढोंगी है जो ऊपर से खूब ठाट-बाट बनाये रहता है। परन्तु जो नाव द्वारा नदी पार हो गया उसको अब नाव से क्या प्रयोजन ? जो स्वप्न से जाग गया है उसको स्वप्न में किये हुए पुण्य-पाप के कर्तापन का अभिमान कैसे शेष रह सकता है। जो अमृत पान करके तृप्त हो चुका है उसको मृग-जल की क्या आवश्यकता, जिसके घर सूर्य निकल आया है उसको अब दीपक जलाने से क्या प्रयोजन ? उसी प्रकार जो सर्वगत सच्चिदानन्द आत्म स्वरूपको प्राप्त कर चुका है तो उसको न कुछ कर्तव्य रहता है और न कुछ ज्ञातव्य रहता है। तब भी ऐसे कृतकृत्य तत्ववेत्ता लोक शिक्षा के लिये परोपकारार्थ निष्प्रयोजन कर्म करते रहते हैं,

क्योंकि वे श्रेष्ठ लोग जो कुछ करते हैं साधारण लोग उमी को धर्म मानते हैं, और उसी का अनुकरण करते हैं। इस प्रकार कर्मयोग और सांख्ययोग दो मार्ग सुनकर अर्जुन ने भगवान कृष्ण से पूछा कि प्रथम में मुझे क्या करना चाहिये। भगवान ने उत्तर दिया कि प्रथम में तुम ज्ञान-विज्ञान को नाश करने वाली इन्द्रियों को वश में करो। फिर अर्जुन ने प्रश्न किया कि इन्द्रियाँ तो बहुत बलवान हैं इनको वश में कैसे किया जाये। इस प्रश्न के उत्तर में भगवान कहते हैं कि :—

३—इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥३-४२॥

हे अर्जुन स्थूल देह से परे बलवान इन्द्रियाँ हैं और इन्द्रियों से परे और बलवान मन है और मन से परे और बलवान बुद्धि है और बुद्धि से भी परे और बलवान जो सूर्यवत् प्रकाशक और आकाशवत सर्वगत असंग सच्चिदानन्द साक्षी आत्मा है सो हे अर्जुन तू है।

विषय रूपी घास चरने वाली बकरी रूपी इन्द्रियों से भेड़िया रूपी मन व बुद्धि बलवान है। परन्तु आत्मा रूपी सिंह सर्व का स्वामी सर्व से बलवान है। अतः इन्द्रियों को ही नहीं मन बुद्धि को भी तुम वश में कर सकते हो; क्योंकि चुम्बक पत्थर से लोहे के समान जड़ शरीर इन्द्रियाँ मन बुद्धि सर्व आत्मा से चेतनता प्राप्त करते हैं। यदि यह कहो कि प्राणादि को फिर आत्मा क्यों बतलाया गया? यथा 'प्राणो ब्रह्म'। (छान्दोग्योपनिषद्) उसका समाधान यह है कि निर्गुण आत्मा को अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण युक्ति द्वारा बोधन

कराया गया है। शारीरिक भाष्य में अरुन्धती न्याय नाम की युक्ति लिखी है कि जैसे कुमारी को अरुन्धती का ज्ञान कराने के लिये प्रथम में चन्द्र को अरुन्धती बतला देते हैं। फिर कहते हैं कि यह चन्द्र अरुन्धती नहीं है। ये सात तारे अरुन्धती हैं। फिर चार तारों का निषेध करके कहते हैं कि ये शेष तीन तारे अरुन्धती हैं। फिर उन तीन तारों में से वशिष्ठ को अरुन्धती बतलाते हैं। वशिष्ठ तारा को भलीभाँति जानने के बाद वशिष्ठ तारा का भी निषेध करके कहते हैं कि इस तारे के समीप जो बहुत सूक्ष्म तारा है वह अरुन्धती है। जिस कुमारी के भाग्य अच्छे होते हैं उसको अरुन्धती का दर्शन हो जाता है। पीछे उसको निश्चय हो जाता है कि चन्द्रादि को दिखलाने का तात्पर्य अरुन्धती के बोधन करने में था। उसी प्रकार प्राणादि को भी आत्मा बतलाने का तात्पर्य पंच ज्ञानेन्द्रिय और मन बुद्धि से पृथक् साक्षी सच्चिदानन्द आत्मा को बोधन करने में है। जैसे कोई सिंह बचपन से बकरियों के संग पाला जाने के कारण घास चरते-चरते अपने को बकरी मानकर गीदड़ से डरने लगे। उसी प्रकार जीवात्मा देह के संग से अपने अविनाशी सुख-राशि स्वरूप को भूल कर शेर होकर भी काम रूपी गीदड़ से डरने लगा है। जैसे कस्तूरी वाला मृग अपनी नाभि से निकलने वाली सुगन्धि को वृक्षों से आती हुई मान कर बन में बराबर वृक्षों की ओर सुगन्धि के लिये दौड़ता रहता है। उसी प्रकार परमानन्द की राशि स्वयं होने पर भी जीवात्मा सुख के लिये सुखहीन क्षणभंगुर शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध पंच विषयों में क्रम से मृग, गज, पतंग, मीन और अलिवत् भटक भटक कर

प्राण देता रहता है। जैसे सूर्य की किरणों के संयोग से मरुभूमि में जलाभास मिथ्या है उसी प्रकार विषयों में मन एकाग्र होने पर जो सुखाभास होता है वह मिथ्या है। यदि विषयों में सुख सत्य होता तो अग्नि में उष्णता की भाँति सदा सुख का भान होता रहना चाहिये। परन्तु किसी विषय में सुख का सदा भान नहीं होता। अतः विषयों में सत्य सुख नहीं है। जैसे ममतारत् कामी लोभी पुरुष को पुत्र स्त्री धन, मछली को जल की भाँति सुख रूप भासते हैं। परन्तु वही पुरुष जब भगवत कृपा से ऋषि बाल्मीक जी की भाँति सत्संग पाकर संसार से विरक्त और उपराम हो जाता है तो उसको वे ही धनादि ऐश्वर्य सर्पवत् और स्त्रियाँ नर्क रूप और पुत्र शत्रुवत् भासने लगते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि विषय में सुख नहीं। जैसे यदि स्त्री के शरीर में सुख माना जाय तो स्त्री को पुरुष के शरीर में सुख नहीं ढूढ़ना चाहिये और यदि पुरुष के शरीर में सुख है तो पुरुष को स्त्री के शरीर में सुख नहीं खोजना चाहिये। अतः सिद्ध हुआ कि न स्त्री के शरीर में सुख है और न पुरुष के शरीर में सुख है दोनों भ्रांति है हैं। जैसे स्थिर जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ने लगता है उसी प्रकार जब अन्तःकरण की वृत्ति विषय में एकाग्र हो जाती है तब उस एकाग्र वृत्ति में सुख स्वरूप आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है। परन्तु जैसे सुगन्धि मृग की नाभि से आती है, अज्ञान से वह मृग सुगन्धि को वृक्षों से आती हुई मान लेता है उसी प्रकार सुख आत्मा से आता है और काम से अन्धा जीव विषयों से आया हुआ मान लेता है। जैसे मुख का प्रतिबिम्ब

शीशा में दीखता है उसी प्रकार अन्तःकरण की एकाग्र वृत्ति आत्मा का शीशा है। जैसे शीशा में प्रतिबिम्ब मुख की सुन्दरता को देख कर बिम्ब मुख में प्रीति बढ़ती है उसी प्रकार तत्व-वेत्ता एकाग्रवृत्ति में सुखाभास को अपना प्रतिबिम्ब समझकर अपने स्वरूप में अनुरक्त होता है विषयों में आसक्त नहीं होता। अज्ञानी इस रहस्य को नहीं जानते इस कारण आत्मा के प्रतिबिम्ब को विषय का सुख समझ कर विषयों में आसक्त रहते रहते हैं। विषयों में सुखबुद्धि को ही काम कहते हैं। अतः हे अर्जुन बुद्धि से परे साक्षी सच्चिदानंद आत्मा में स्थिर होकर काम रूपी वैरी को और उसके वाहन इन्द्रियाँ मन बुद्धि को जीत लेना उतनाही सुगम हो जायगा जितना सूर्य-किरणों को जान लेने पर मृगजल में रहने वाले अत्यंत भयंकर मकर को जीत लेना सुगम हो जाता है। जैसे अपने को दासीपुत्र मानने वाले कर्ण को शब्द श्रवण से ही ज्ञात हुआ कि मैं कुन्तीपुत्र हूँ। अथवा जैसे नदी पार करने वाले दस पुरुषों में गिनने वाले दशम पुरुषको ही भ्रम हो गया था कि दशवाँ डूब गया और उसको एक महापुरुष के शब्द श्रवण से ज्ञान हो गया कि नौ से प्रथक नौ का साक्षी मैं ही दशम पुरुष हूँ। उसी प्रकार महावाक्यों के श्रवण द्वारा ही अपरोक्ष ज्ञान होता है कि मैं पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन बुद्धि चित्त अहंकार से पृथक् नौ का साक्षी सच्चिदानन्द सर्वगत आत्मा हूँ। आवान्तर वाक्यों से परोक्ष ज्ञान होता है कि सर्वाधिष्ठान सर्वगत सच्चिदानन्द आत्मा है, परन्तु मुझसे पृथक है। जैसे दशम पुरुष है इस अवान्तर वाक्य से परोक्ष ज्ञान होता है कि दशम पुरुष है, डूबा

नहीं । अतः आवान्तर वेदान्त वाक्यों से दशम पुरुष है इस प्रकार से ब्रह्म है ऐसा ब्रह्म परोक्ष ज्ञान होता है। और महावाक्यों से दशम पुरुष हूँ इस प्रकार से ब्रह्म हूँ ऐसा अपरोक्ष ज्ञान होता है। बिना वेदान्त श्रवण के ज्ञान कदापि नहीं हो सकता। इसी कारण भगवान कृष्ण बतलाते हैं कि इस ज्ञान योग को कहने से ही अधिकारी लोग जानते चले आ रहे हैं। मैंने इस अविनाशी ज्ञान योग को कल्प के आदि में सूर्य के प्रति कहा था और सूर्य ने मनु से और मनु ने राजा इक्ष्वाकु से कहा। अब उसी ज्ञान योग को आज परम वैराग्यवान मुमुक्षु और श्रद्धालु समझ कर हे अर्जुन तुमसे कह रहा हूँ। क्योंकि बिना बतलाए हुए इसको कोई जान नहीं सकता। असंख्य जन्म मृत्युओं का जीव भी अनुभव करता चला आ रहा है, क्योंकि अविनाशी है परन्तु मलिन अन्तःकरण होने के कारण उसको पूर्व जन्मों की याद नहीं रहती है। परन्तु भगवान कृष्ण कहते हैं कि मलविक्षेप आवरण से रहित अन्तःकरण वाले मुक्त सर्वज्ञ को अपने सब अवतारों की स्मृति है। दुष्टों को मारने के लिये और साधुओं की रक्षा के लिये और धर्म की संस्थापना के लिये स्वेच्छा से युग-युग में अवतार लेता हूँ। जीव का शरीर पाप-पुण्य रचित पंची-कृत भूतों का बना होता है; भगवान का शरीर शुद्ध मायाकृत चिदानन्दमय होता है। जैसे जेलखाना में कैदी परतन्त्र होकर दण्ड भोगने जाता है और राजा जेलखाने में स्वेच्छा से स्वतन्त्रता पूर्वक सुधार के लिये जाता है। उसी प्रकार जीव पाप-पुण्य भोगने के लिये परवश होकर शरीर धारण करता है परन्तु भगवान का अवतार जीवों को कल्याण मार्ग बतलाने के लिये कृपावश होता है। परन्तु जैसे स्वप्न-

द्रष्टा स्वप्न में निद्रा-जनित शरीर से अवतार लेता है उसी प्रकार इस संसार स्वप्न में जाग्रत द्रष्टा भगवान कृष्ण मायारचित शरीर से अवतार सा लेते हैं।

दोहा—यथा अनेकन वेष धरि, नृत्य करे नट कोय।
जो-जो भाव दिखवई, आप होय नहि सोय॥

जैसे दर्पण में सूर्य अवतार लेता है उसी प्रकार मायामय शरीर द्वारा भगवान प्रकट होकर जीवों का उद्धार करते हैं। जैसे स्वप्न-द्रष्टा स्वप्न शरीर से सारे कर्म करता हुआ जाग्रत दृष्टि से कुछ नहीं करता उसी प्रकार भगवान सारे कार्य माया द्वारा करते हुए वास्तव में परमार्थ दृष्टि से अकर्ता हैं। उसी प्रकार तत्ववेत्ता भी शरीर मन इन्द्रियों से कर्म करता हुआ आत्म दृष्टि से अकर्ता रहता है; क्योंकि उसको देहाभिमान नहीं होता है, आत्मामें अभिमान होता है। देहाभिमान पूर्वक किये हुये विहित कर्मों को कर्म और निषिद्ध कर्मों को विकर्म कहते हैं। और कर्ता भोक्ता की भ्रान्ति के विना स्वप्नवत् सारे कर्मों को अकर्म कहते हैं। क्योंकि वे देहाभिमान से रहित होने के कारण ज्ञानाग्नि से दग्ध भुने चने की भाँति जन्म रूप अंकुर देने में समर्थ नहीं हैं। भगवत् प्राप्ति के सारे साधन यज्ञ रूप हैं जिनमें ज्ञानयज्ञ सर्व से श्रेष्ठ हैं। जैसे कुआं तभी तक खोदा जाता है जबतक निर्मल जल नही निकलता। इसी प्रकार समस्त कर्म तभी तक कर्तव्य हैं जब तक अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता। स्वप्न-समुद्र में यात्रा करनेवाले को निद्रा टूटने पर जैसे स्वप्न का जहाज बेकार हो जाता है उसी प्रकार ज्ञान से अज्ञान निद्रा टूटने पर सर्व कर्म समाप्त हो जाते हैं।

परन्तु संशय पर्यन्त ज्ञान दृढ़ नहीं होता इस कारण भगवान कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि :—

४—तस्मादज्ञानसंभूतंहृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनंसंशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥

अ०—श्लोक—४—४२

हे अर्जुन अज्ञान से उत्पन्न हुये हृदय में स्थित संशय को ज्ञान रूप तलवार से पहले नाश करो फिर युद्ध करो । संशय दो प्रकार का होता है । एक प्रमाणगत दूसरा प्रमेयगत है । प्रमाणगत संशय वेदान्त-वाक्य के श्रवण से दूर हो जाता है, क्योंकि ज्ञान में वेदान्त वाक्य ही प्रमाण हैं । प्रमेयगत संशय दो प्रकार के हैं । एक आत्मसंशय दूसरा अनात्मसंशय । आत्मसंशय भी दो प्रकार के हैं ।

१—त्वंपदार्थ गोचर संशय :—अर्थात् यह संशय होना कि आत्मा देह से भिन्न है या नहीं । यदि भिन्न है तो अणु या मध्यम है या विभु परिमाण वाली है । कर्ता या अकर्त्ता है और एक है या अनेक है और आत्मा ब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न है यदि अभिन्न है तो सदा से अभिन्न है या मोक्ष काल में अभिन्न होती है । आनन्द और ज्ञान-गुण वाली है या आनन्द और ज्ञान स्वरूप है ।

२—तत्पदार्थ गोचर संशयः—ईश्वर एक देशी वैकुण्ठादि में स्थित सावयव है या निरवयव विभु है । जगत का उपादान कारण है या निमित्त कारण है ? अनात्मसंशय यह है कि प्रपंच सत्य है या असत्य है । यदि असत्य है तो प्रतीत क्यों

होता है। बन्ध सदा से असत्य है या मोक्षकाल में असत्य हो जाता है। यदि जगत रज्जु सर्पवत् प्रतीति मात्र है तो जब देखो तो वही अनादि काल का पूर्ववत् क्यों दिखलाई पड़ता है। ज्ञान होने पर भी ज्ञानियों को क्यों प्रतीत होता है, क्योंकि रज्जु के ज्ञान हो जाने पर सर्प प्रतीत नहीं हो सकता है। अस्तु सत्संग स्वाध्याय और अनेक प्रकार की अभेद की साधक और भेद की बाधक युक्तियों के चिन्तन द्वारा संशय दूर कर लेना चाहिये ; क्योंकि संशय युक्त अदृढ़ अपरोक्ष ज्ञानी को भी जन्म लेना पड़ता है। संशय और विपर्यय से रहित ज्ञान को दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं जिसके प्राप्त हो जाने पर फिर जन्म नहीं होता। जैसे किसी पंगु पुरुष को वन में देखा हो और उसी को फिर अपने नगर में देखे तो वह वन से नगर में भी कैसे पहुँचा जब कि वहाँ कोई भी लाने वाला न था इस संशय को निवारण करने के लिये युक्ति से समाधान कर ले कि सम्भवतः वह योगी होगा। अपने योगबल से लंगड़ा होने पर भी मेरे नगर में आ गया। अथवा कोई अश्वारोही अचानक वहाँ आ गया और इस पंगु को अपने घोड़े पर चढ़ा कर यहाँ उतार कर रात में चला गया होगा। इस प्रकार की युक्तियों सेसमाधान कर लेना चाहिये। प्रत्यक्ष देखते हुए यह दुराग्रह नहीं करना चाहिये कि पंगु होने से निर्जन वन से इसका इस नगर में आना असंभव है। अतः यह बनवाला पंगु मेरे नगर में नहीं आसकता है। ऐसा दुराग्रह मूर्खता है कि देखते हुए भी उसको न माना जाय। इसी प्रकार स्वप्न का जाग्रत में और जाग्रत का स्वप्न में और जाग्रत स्वप्न का सुषुप्ति में अभाव और मिथ्यात्व अनुभव सिद्ध है और तीनों अवस्थाओं का द्रष्टा जब तीनों

अवस्थाओं की प्रतीति से रहित सुषुप्ति को त्यागने के पश्चात और जाग्रत स्वप्न ग्रहण करने के पूर्व निर्द्वैत सच्चिदानन्द घन रूप से स्थित होता है तब देह से अहंकार पर्यन्त सभी धर्मों से रहित एक रस नित्य स्वरूप सर्व को अपना आप होने से अपरोक्ष है। फिर भी कर्ता भोक्ता संसारी संसार दशामें प्रतीति होने लगता है। अस्तु, द्रष्टा की असंगत अपरोक्ष होने पर भी दुराग्रह पूर्वक जन्म-मृत्यु, भूख-प्यास, हर्ष-शोकादि द्वन्द्व निज स्वरूप अनुभवसिद्ध असंग द्रष्टा में मानना उस पंगु को नगर में देखते हुए नगर में न मानने के समान दुराग्रह मात्र है। जैसे जाग्रत में स्वप्न मिथ्या हो जाता है उसी प्रकार स्वप्न में जाग्रत मिथ्या हो जाता है। यदि स्वप्न में जाग्रत बना रहता है तो द्रष्टा के होने पर भी जाग्रत स्वप्न में क्यों नहीं दिखाई पड़ता। क्या द्रष्टा को दृष्टि का लोप हो जाता है? यदि द्रष्टा की दृष्टि का लोप स्वप्न और सुषुप्ति में हो जाय तो स्वप्न और सुषुप्ति का अनुभव नहीं होना चाहिये और अनुभव के बिना जाग्रत में स्मृति स्वप्न व सुषुप्ति की नहीं होना चाहिये। परन्तु जाग्रत में स्वप्न, सुषुप्ति की स्मृति होती है। अतः सिद्ध हुआ कि स्वप्न व सुषुप्ति में जाग्रत जगत नहीं रहता इस कारण नहीं दिखाई पड़ता, यदि रहता तो स्वप्न सुषुप्ति में जाग्रत का ज्ञान अवश्य होता; क्योंकि :—नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपोविद्यते ऽविनाशित्वात्। (बृ० उ०)। अतः अज्ञान जनित संशय वेदान्त वाक्यों के श्रवण-मनन द्वारा अवश्य दूर कर लेना चाहिये। संशय दूर होने पर बादल हटने की भाँति निज स्वरूप का बोध सूर्यवत् अपरोक्ष हो जाता है। फिर जैसे छाया के घटने बढ़ने, उत्पन्न नाश होने से ठूंठ ज्यों का त्यों अचल एक रस निष्क्रिय रहता है उसी प्रकार

छायावत् देह मन इन्द्रियों की सारी चेष्टाओं में वह तत्वज्ञानी स्थाणुवत् निष्क्रिय रूप से स्थित रहता है। जागने पर समस्त स्वप्न जैसे अपनी ही छाया भासती है। उसी प्रकार वह ज्ञान होने पर सारे विश्व को अपना स्वरूप ही छायावत् देखता है। जैसे जाग जाने पर स्वप्न के शत्रु पर क्रोध और स्वप्न देह के मृत्यु का भय और स्वप्न के धन, पुत्र, स्त्री की कामना का अभाव हो जाता है उसी प्रकार ज्ञानयोगी इच्छा, भय और क्रोध से रहित होकर सारे विश्व की आत्मा हो जाता है। अर्जुन ने भगवान से पूछा कि कर्मयोग और सांख्ययोग में श्रेष्ठ कौन है। भगवान ने उत्तर दिया दोनों ही कल्याण करने-वाले हैं। परंतु जैसे नदी को तैर कर तो विरला ही पार हो सकता है और नाव से स्त्री और बालक भी पार हो सकते हैं। इसी प्रकार सांख्ययोग तो उसी के लिये कल्याणप्रद होगा जो अहंता ममता से रहित समत्व भाव में स्थित है। परंतु कर्मयोग से अहंता ममता से युक्त अज्ञानी भी अपना अंतःकरण शुद्ध करके ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। अतः अधिक लोगों को पवित्र करने वाला होने से कर्म योग विशेष है। यदि हे अर्जुन तुम यह कहो कि कर्मयोग पालन करने में पाप भी करना पड़ता है। जो नर्क में डालने वाला है। परंतु यह बात नहीं क्योंकि :—

५-ब्रह्मण्याधाय कर्माणिसङ्गंत्यक्त्वा करोतिय :
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ ५-१०

सेवक-सेव्य भाव से भगवदर्थ ममता आसक्ति से रहित होकर कर्म करने को कर्म योग कहते हैं और इस प्रकार से कर्म

करने वाला भगवत परायण पुरुष पाप से भी उसी प्रकार लिपाय मान नहीं होता जैसे जज फाँसी देने पर भी दण्ड का भागी नहीं होता, यदि उसने स्वार्थ से रहित होकर सरकारी कानूनके अनुसार पक्षपात रहित उचित न्याय किया है। स्वामी की आज्ञा से माली पेड़ों को लगाता भी है और काटता भी है। परन्तु पेड़ों को काटने पर माली अपराधी नहीं हो जाता। अभिप्राय यह है कि ईश्वरार्थ यदि पाप भी लोकदृष्टि से हो जाये तो पाप नहीं है। प्रमाण में राजा बलि ने गुरु की आज्ञा उलंघन रूप पाप ईश्वरार्थ किया, प्रह्लाद ने ईश्वरार्थ पिता की आज्ञा त्याग कर पाप किया, विभीषण ने अपने भाई रावण का त्याग करके ईश्वरार्थ पाप किया, भरत ने भगवान राम के प्रेम में माता का तिरस्कार करके पाप किया। व्रज की गोपिकाओं और मीरा ने ईश्वरार्थ पति को त्याग कर पाप किया। परन्तु 'भयोमुद मंगल कारी' (विनय पत्रिका) अर्थात् किसी को उसी प्रकार पाप ने स्पर्श नहीं किया जैसे कमल को जल स्पर्श नहीं करता। देहाभिमान पूर्वक विषय सुख के लिये सारा पुरुषार्थ पाप है और निष्काम भाव से परमानन्द घन सर्वात्मा भगवान की प्राप्ति के लिये सारे पुरुषार्थ बंध से मुक्त करने वाले पुण्य रूप हैं। जैसे मालिक के मोटर में ड्रायवर अहंता ममता से रहित होकर काम करता है अर्थात् वह ड्रायवर यह समझता है कि न मैं मोटर न मेरा मोटर। मोटर मेरे मालिक का है। उसी प्रकार ईश्वरार्थ कर्म करने वाला कर्मयोगी रूपी ड्रायवर यह समझता है कि देह रूपी मोटर न मैं हूँ न मेरा है। यह देह पिण्ड और ब्रह्माण्ड मेरे स्वामी सच्चिदानंद भगवान का है। अस्तु, शरीर रूपी

मोटर में कर्मयोगी ड्रायवर की भाँति अहंता ममता से रहित होता है और ज्ञानयोगी शरीर को छाया या स्वप्न देह समझ कर पंचकोश रूप तीनों देहों में अहंता ममता से रहित होता है। अर्थात जैसे अपने शरीर की छाया में कोई। अहंता ममता नहीं करता, अथवा जैसे जागने पर स्वप्न देह में अहंता ममता नहीं रहती। उसी प्रकार ज्ञानयोगी देहों को छाया और अज्ञान निद्रा रचित स्वप्न वत् समझ कर देहों में अहंता ममता नहीं करता। अत अहंता ममता रहित कर्मयोगी और ज्ञानयोगी दोनों होते हे। कुछ भावना में अन्तर है। ज्ञान होने पर कर्मयोगी ज्ञानयोगी होकर समान भावना वाला हो जाता है। अहंता ममता में फंसा हुआ न योगी ही है और न संन्यासी ही है। अहंता ममता रूपी रोग नाश होने में वैद्य की कृपा के समान गुरु की कृपा है और आयुर्वेद की प्राप्ति के समान शास्त्र कृपा है और मनुष्य आयु और परमार्थ में रुचि प्राप्त होना रूप ईश्वर कृपा है। क्योंकि यदि आयु पूरी हो गई, प्रारब्ध शेष नहीं है तो वैद्य और आयुर्वेद रोग दूर नहीं कर सकते उसी प्रकार मनुष्य शरीर बिना साधन असम्भव है। कुपथ्य का त्याग करके पथ्य सेवन करते हुए आहार विहार पर ध्यान रख कर संयमी बनकर औषध को नियम से सेवन करना आत्मकृपा है। आत्मकृपा सबसे प्रधान है। शास्त्रकृपा, गुरु कृपा ईश्वर कृपा होने पर भी यदि आत्मकृपा न हो तो भवसागर पार होना असम्भव है। परन्तु सब कृपायें होने पर भी जो आत्मकृपा नहीं करता वह आत्महत्यारा है। रामायण में भगवान राम ने उपदेश किया है कि :—

चौ० नर तनु भव वारिध कह बेरो ॐ सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो।
करणधार सद्गुरु दृढ़ नावा ॐ दुर्लभ साज सुलभकार पावा॥
दो० जो न तरै भव सागरहिं, नर समाज अस पाय।
सो कृत निन्दक मन्द मति, आतम हनि गति जाय॥

जैसे—अन्धेरे में खोई हुई वस्तु खोजने में दीपक सहायक है ओर नेत्रों की प्रधानता है उसी प्रकार अहन्ता ममता रूप भव सागर पार होने में ईशकृपा गुरुकृपा और शास्त्रकृपा दीपकवत् सहायक है और आत्म कृपा की नेत्रवत् प्रधानता है। जैसे तोते चोंगी स्वयम् पकड़ते हैं इसी से स्वयम् उसको छोड़ना पड़ेगा। और जैसे बन्दर स्वयम पृथ्वी में गड़ी हुई सुराही में दानों के लोभ से हाथ डालते हैं और मुट्ठी दानों से भरकर निकालना चाहते हैं, परन्तु सुराही का मुख छोटा होने से जब मुट्ठी नहीं निकलती तब बहुत दुखी होते हैं यह सोचकर कि सुराही ने मुझे पकड़ लिया। परन्तु स्वयम् ही सुराही में मुट्ठी को बांध कर दानों को पकड़ा है। इससे स्वयं ही छोड़ना होगा क्योंकि न तो चोंगी ने तोते को और सुराही ने बन्दर को पकड़ा है। जिसने पकड़ा उसी को छोड़ना होगा नहीं तो बधिक के जाल में फंसना होगा। उसी प्रकार देह दृश्य को तोता व बन्दर की भाँति आत्मज्ञान से रहित समस्त विद्वान् व मूर्ख स्वयं ही अहंता और ममता द्वारा कसके पकड़े हुए हैं। जबतक स्वयं ही अपना उद्धार नहीं करते तब तक बराबर जन्म मृत्यु रूपी बधिक के जाल में फँसते रहते हैं। जैसे रोगी को कुपथ्य के त्याग और पथ्य के सेवन की आवश्यकता है उसी प्रकार अहन्ता ममता रोग से रोगी जीव को आहार और विहार में युक्त होना चाहिये। परन्तु मन वायु से भी अधिक

चंचल है। इस चंचल मन को सर्वात्मा ब्रह्म में तदाकार करना वायु स्थिर करने से भी कठिन है। इसपर एक दृष्टान्त है कि :— एक ब्राह्मण को भूत सिद्ध हो गया था। उस भूत ने ब्राह्मण से कहा कि जिस दिन काम नहीं बताओगे उसी दिन तुमको मारडालूंगा। पंडितजी की चतुर स्त्रीने एक आठ डन्डों की बाँस की सीढ़ी उस भूत से बनवाई और उस भूत को सदा के लिए आज्ञा दे दी कि इसी सीढ़ी पर निरन्तर चढ़ते उतरते रहो। भूत ऐसा ही करने लगा। अन्त में हार मानकर पण्डित जी के अधीन हो गया और पंडितजी को न मार कर चढ़ते उतरते चढ़ते उतरते स्वयं मर गया। इस प्रकार भूत से पंडित मुक्त हो गये। इसी प्रकार मन भी भूत है क्यों कि अपंचीकृत पंच भूतों से मिल कर बना है। यह मन भूत जीव रूप पंडित को चौरासी लक्ष योनियों में घुमाते हुए दुखी कर रहा है। इस मन भूत को आधीन करने के लिये अष्टांगयोग रूपी आठ डण्डों की सीढ़ी अमोघ उपाय है। भक्तियोग नौ डन्डोंकी सीढ़ी और ज्ञान योग सात डंडोंकी सीढ़ी है। श्रवण, कीर्तन स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दना, दास्य भाव, सख्यभाव और आत्मनिवेदन ये नौ डंडे भक्तियोगरूपी सीढ़ी के हैं। शुभेच्छा, विचारण, तनुमानसा, सत्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभाविनी और तुर्यगा ये सात ज्ञानभूमिकायें रूपी डंडे ज्ञानयोग रूपी सीढ़ी के हैं। इनमें शुभेच्छा वेदान्त श्रवणरूप, विचारणा मननरूप और तनुमानसा निदिध्यासनरूप है। इन तीनों भूमिकाओं में दृश्य जाग्रत रूप से ही भासता है। सत्वापत्ति में आत्म साक्षात्कार हो जाता है अर्थात् निर्द्वन्द्व परमानन्दघन ब्रह्म में आत्म बुद्धि हो जाती है और दृश्य स्वप्न रूप से भासने लगता है अर्थात् जाग्रत व स्वप्न समान मिथ्या निश्चय हो

जाते हैं। चतुर्थ भूमिकारूढ़ तत्त्वज्ञानी पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता। शेष तीन भूमिकायें जीवन्मुक्ति के विलक्षण आनन्द की वृद्धि के लिये हैं कर्तव्य नहीं। ज्ञान होने पर प्रवृत्ति निवृत्ति प्रारब्धाधीन है।

अष्टांगयोग में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, नामक आठ अंग हैं जिसका पूरा-पूरा रहस्य योग दर्शन को गुरु द्वारा पढ़ने व अभ्यास करने से समझ में आता है। चित्त-वृत्ति का निरोध योग कहलाता है। यथा योगश्चित्त वृत्ति निरोधः। (योगदर्शन)

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य अपरिग्रह ये पाँच यम हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान ये पाँच नियम हैं। चौरासी आसन हैं जिनमें पद्मासन और सिद्धासन अत्यन्त प्रधान हैं। पूरक, रेचक, कुंभक ये तीन प्राणायाम हैं।

विषयों से सकल इन्द्रियों के निरोध को प्रत्याहार कहते हैं। अंतराय रहित अन्तःकरण की स्थिति को धारण कहते हैं। ध्येय में वृत्ति का तदाकार रहना ध्यान कहलाता है।

अन्तःकरण की एकाग्रता रूप परिणाम को समाधि कहते हैं। त्रपुटी भान सहित को सविकल्प और त्रपुटीभान रहित को निर्विकल्प समाधि कहते हैं। सत्संग, स्वाध्याय, विचार और निष्काम भक्ति करने से भी मन का विक्षेप नाश होकर साधक मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। परन्तु अष्टांग योग से तो वायु से भी अधिक चंचल मन भी अवश्य वस में हो सकता है। क्यों कि यह हठ योग है। जब चित्तवृत्ति पूर्ण रूप से संसार से वैराग्य करके भगवान के ध्यान में एकान्त में अभ्यास करते-करते समाहित हो जाती है तो

फिर ज्ञान द्वारा वह साधक समदर्शी हो जाता है। भगवान कृष्ण समदर्शी का लक्षण बतलाते हुए अर्जुन से कहते हैं कि :—

६—सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।

ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥अ० ६-२९॥

हे अर्जुन योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शी संपूर्ण संसार में आत्मा को और आत्मा में संम्पूर्ण संसार को देखता है। जैसे समस्त स्वप्न संसार में स्वप्न द्रष्टा व्यापक है और स्वप्न द्रष्टा में सम्पूर्ण स्वप्न स्थित है अथवा जैसे सम्पूर्ण तरंगों में जल और जल में संपूर्ण तरंगें स्थित हैं उसी प्रकार नित्य सर्वगत सच्चिदानन्द आत्मा हो सर्वरूप में सर्वत्र स्थित है और सर्वातीत भी है। जैसा कि भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में भगवान कृष्ण ने बतलाया है कि :—

आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्जते सृजति प्रभुः ।

त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः ॥

आत्मा ही ब्रह्मारूप से सृष्टि को रचता है जैसे जल तरंग को रचताहै और जैसे जल तरंग रूप से उत्पन्न भी होता है उसी प्रकार आत्मा सृष्टि रूप भी विवर्त रूप से होता है। और जैसे जल,तरंग को अपने में स्थित रखता है उसी प्रकार आत्मा विष्णु रूप से सृष्टि की रक्षा करता है और जैसे जल ही तरंग रूप से स्थित होता है उसी प्रकार आत्मा सृष्टि रूप से रक्षित भी होता है। और जैसे जल तंरग को लीन कर लेता है और तंरग रूप से लीन भी होता है उसी प्रकार आत्मा शंकर रूप से सृष्टि का संहार भी करता है और सृष्टि रूप से लीन भी होता है। अर्थात् आत्मा ही सृष्टि का माया द्वारा कर्ता है और कर्म भी है; क्योंकि सृष्टि रज्जु सर्पवत

आत्मा का विवर्त है। जैसा कि ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय के चतुर्थ पाद के सातवें अधिकरण के छब्बीसवें सूत्र में कहा गया है कि :—

'आत्मकृतेः परिणामात्। अर्थात् आत्मा सृष्टि का कर्ता व कर्म है परिणाम अर्थात् विवर्त होने से। भाष्यकार ने 'परिणामात्' का अर्थ 'विवर्तात' किया है। नित्य सर्वगत आत्मा ने समस्त ब्रह्माण्ड को माया द्वारा रचा और जैसे शीशा में सूर्य प्रवेश करता है उसी प्रकार अन्तःकरण रूपी शीशों में जीव रूप से प्रवेश भी कर गया। जैसा कि तैत्तिरीयोपनिषद् का मन्त्र है 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'। जैसे स्वप्न के समुद्र में जाग्रत शरीर के अभासरूप स्वप्न शरीर से ही प्रवेश हो सकता है उसी प्रकार परमार्थ स्वरूप आत्मा का प्रातिभासिक स्वप्नवत् देहों में आभास रूप से ही प्रवेश हो सकता है। जैसा कि ब्रह्म सूत्र के दूसरे अध्याय के तीसरे पाद के सत्तरहवें अधिकरण के पैंतालिसवें सूत्र में कहा है कि :— आभास एव च ॥ अर्थात सूर्य के प्रतिविम्बवत् आत्मा का जीव आभास है। व्यष्टि सूक्ष्म व कारण देहों में आभास जीव है और समष्टि कारण देह अर्थात् माया में आभास ईश्वर है। अस्तु सिद्ध हुआ कि आत्मा ही माया से जीव, ईश्वर और सृष्टि रूप होता है और परिणाम को भी दूध दहीवत प्राप्त नहीं होता समदर्शी सांख्ययोगी उसी सर्वाधिष्ठान नित्य सर्वगत अद्वैत आत्मा को अपना स्वरूप समझता है। इस कारण वह सर्वदृश्य को अपनी आत्मा में और आत्मा को सर्वविश्व में जल-तरंगवत् परिपूर्ण देखता है। परन्तु इस प्रकार के मोक्षदायक ज्ञान प्राप्त करने के योग्य अन्तःकरण को मलविक्षेप से रहित करने में अनेक

जन्म साधन करते-करते लग जाते हैं। जो साधन में लग गया है वह बराबर उर्ध्वगति को प्राप्त करता हुआ पवित्र श्री मानों अथवा विरक्त ज्ञानवानों के यहाँ जन्म लेकर साधनों के अभ्यास में लगा रहता है। परन्तु सर्वसाधनों का श्रद्धा प्राण है। अतः सबसे अधिक श्रद्धा वाला योगी सर्व साधकों से श्रेष्ठ है। यद्यपि सर्व मनुष्यों को मुझ सच्चिदानन्द स्वरूप वासुदेव की प्राप्ति में अधिकार है; क्योंकि मनुष्य योनि कर्मयोनि भी है, अन्य समस्त योनियाँ केवल भोग-योनियाँ ही हैं, तथापि श्रद्धा की कमी होने के कारण हजारों मनुष्यों में से कोई एक श्रद्धावान मनुष्य मुझ परमात्मा वासुदेव को प्राप्त करने में यत्न करता है परन्तु अधिकतर सकामी आर्त और अर्थार्थी होने के कारण उन यत्न करने वालों में से कोई विरला ही जिज्ञासु भक्त बन कर ज्ञान द्वारा मुझ वासुदेव को अभेदरूप से प्राप्त कर पाता है। सब को मैं प्राप्त नहीं होता क्यों कि वे प्रायः कामनापूर्ण होने पर विषयासक्त हो जाते हैं जैसा कि रामायण में वेदों ने भी कहा है। 'ते पाय सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरि', अर्थात हे हरि! आशाओं में फँसे हुए साधकों को देव-दुर्लभ ब्रह्मा आदि के पद को पाकर भी हम उस से नीचे गिरते देखते हैं। अतः ऐसा महात्मा चन्दन के वृक्ष और पारस के समान दुर्लभ है जिसने अनेक जन्मों के अभ्यास द्वारा अब अन्तिम शरीर में ऐसा ज्ञान प्राप्त कर लिया है कि स्वर्णभूषण और जल तरंगवत् सर्व वासुदेव ही है। प्रायः सकामी अज्ञानी भेद बुद्धि से अन्य देवताओं को भजते हैं। कल्प वृक्ष के समान भावना के अनुसार फल देनेवाला मैं ही देवता रूप में उनकी कामना को शीघ्र पूरा करता हूँ, परन्तु हे अर्जुन उनका फल नाश-

वान है और वे सकामी भेदवादी मुझको न प्राप्त होकर जन्म-मरण के चक्कर में पड़े रहते हैं। बृहदारण्य उपनिषद् का भी मन्त्र है, 'अथयोऽन्यां देवतामुपासते ?

ऽन्योऽसावन्यो ऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेव स देवानाम्।

अर्थात् भेद बुद्धि से देवता की उपासना करने वाला सकामी तत्व को नहीं जानता। वह देवताओं का मानो पशु है। और भी श्रुति वचन है कि—मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इहि नानेव पश्यति। अर्थात् भेददर्शी मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता रहता है। भगवान कृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन अब मैं तुमको वह सर्वोत्तम ज्ञान सुनाता हूँ जिसको जानकर फिर कुछ जानना शेष नहीं रहेगा। ध्यान देकर सुनो—

७—मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ गीता अ० ७-७

जैसे जल से तरंग, स्वर्ण से भूषण और स्वप्नदृष्टा से स्वप्न भिन्न नहीं है। उसी प्रकार सम्पूर्ण परा और अपरा प्रकृति रूप जगत मुझसे भिन्न नहीं। अर्थात् जीव रूप परा प्रकृति मुझ सच्चिदानन्द सर्वगत आत्मा का प्रतिबिम्ब होने से मुझसे भिन्न नहीं है और पंचभूत, मन बुद्धि और अहंकार रूप आठ प्रकार से विभक्त हुई अपरा प्रकृति मुझमें माया से रज्जुसर्पवत अध्यस्त होने के कारण मुझ अधिष्ठान ब्रह्म से उसी प्रकार भिन्न नहीं जैसे सूर्य किरण से मृगजल भिन्न नहीं होता। यह सम्पूर्ण जगत उसी प्रकार मुझ व्यापक वासुदेव के आश्रय है जैसे माला में मणियाँ सूत्र के आश्रय होती हैं। अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्मांड माला के सदृश्य है। व्यष्टि

स्थूल सूक्ष्म कारण संघात पृथक पृथक (काँच की) मणियाँ है। भगवान वासुदेव सर्वत्र आश्रय अधिष्ठान रूप से सूत्र हैं। व्यष्टि शरीर रूप काँच की मणि में परमात्मारूपी सूत के अंशका प्रतिबिम्ब परा प्रकृतिरूप जीव का सामान्य रूप आभास चेतन है जो काँच की मणि रूपी बुद्धि से अवच्छिन्न चेतन जीवके विशेष रूप कूटस्थ आत्मारूपी मणि अवच्छिन्न सूत्र-के अंश से अभिन्न है; क्योंकि प्रतिबिम्ब अपने बिम्ब से भिन्न नहीं हो सकता और वह सूत्र अंश सदृशय बुद्धि अवच्छिन्न चेतन आत्मा पूर्ण सूत्ररूप व्यापक ब्रह्म से सदा से अभिन्न है। अब शेष रही अपरा प्रकृति रूप काँच की मणियाँ सो स्वप्नवत् अज्ञान निद्रा जन्य होने से अविद्या का परिणाम और शुद्ध चेतन का विवर्त हैं। अतः भगवान कृष्ण कहते हैं कि मुझ वासुदेव से भिन्न कुछ नहीं है। और जो भिन्न प्रतीति होता है वह छाया, स्वप्न और रज्जु सर्पवत् मिथ्या मेरे आश्रय प्रतीत होता है। जो ज्ञानी भक्त समष्टि स्थूल संघात विशिष्ट मुझ अधिभूत विराट को व समष्टि सूक्ष्म संघात विशिष्ट मुझ अधिदैव हिरण्यगर्भ को और समष्टि कारण अर्थात् माया विशिष्ट मुझ अधियज्ञ ईश्वर को अभिन्न जान कर देह के मरते समय भी इस ज्ञान को नहीं छोड़ता वह मेरे अविनाशी परमधाम को प्राप्त होता है। परन्तु विद्यार्थी जैसे जिस पाठ का सदा अभ्यास करता रहता है वही अभ्यस्त पाठ परीक्षा के समय काम देता है। उसी प्रकार मनुष्य जिसके अभ्यास में सदा लगा रहता है अन्तकाल में उसी अभ्यस्त भाव में भावित होकर शरीर त्याग करके उसी भाव के अनुसार गति प्राप्त करता है। अतः 'जन्म भर' जो मन माया ही माया रटे तो यह गिरे माया के कूपा, जो मन ब्रह्म ही ब्रह्म विचारै तो हो जाये ब्रह्म स्वरूपा'।

इसी कारण भगवान अर्जुन से कहते हैं कि युद्ध भी करो और मेरा बराबर स्मरण भी रक्खो। जैसे दुकानदार सौदा भी बेचता है और मुनाफ़ा भी स्मरण रखता है। कलकत्ता जाने वाला टिकट भी स्टेशन पर लेता है और कलकत्ता का भी स्मरण रखता है। उसी प्रकार परम पुरुषार्थ होने के कारण सदैव मुनाफ़ारूप परमात्मा का स्मरण रखना चाहिये।

दोहा—ज्यों तिरिया पीहर बसै, सुरति रहै पिय माहिं।
ऐसे जन जग में रहें, हरि को भूलत नाहिं॥

चौ० हरि सुमिरन कीजै जिमि गाई—चरत फिरत शिशु बिसिर न जाई।
हरि सुमिरन कीजै जिमि कामी—तजि हिय होत नारि अनुगामी।
हरि सुमिरन कीजै जिमि लोभी—निशि दिन रहै द्रव्य हित छोभी।

यदि कामी लोभी के समान साधक का ऐसा अभ्यास हो जाये कि :—

कर से कर्म करे विधि नाना, मन राखै जहँ कृपानिधाना।

तो फिर माया का कोई भय नहीं इसलिये, 'काम करत चलु-नाम कहत चलु-का काहू को डर है-परदेशी को भवन बसत है-का काहू को घर है।'

भगवान कहते हैं कि मेरे एकाक्षर ओंकार स्वरूप का चिन्तन करते हुये शरीर त्यागने वाला मेरे अविनाशी परम धाम को प्राप्त हो जाता है।

विराट स्वरूप अकार का हिरण्यगर्भ रूप उकार से और उकार का ईश्वर स्वरूप मकार से जलतरंग और स्वर्ण भूषणवत अभेद है क्योंकि कार्य उपादान से अभिन्न होता है। और ईश्वर रूप मकार का अर्धमात्रा शुद्ध ब्रह्म से उसी प्रकार अभेद

है जिस प्रकार कारण अभिमानी प्राज्ञ जीव का कुटस्थ आत्मा से अभेद है; क्योंकि माया उपाधि से युक्त ब्रह्म को ईश्वर और माया अंश अविद्या उपाधि से युक्त ब्रह्म के अंश कूटस्थ आत्मा को जीव कहते हैं। माया अविद्या आकाश में नीलमा और भानुकर वारिवत अध्यस्त होने से ज्ञान से बाध हो जाती है। माया अविद्या के बाध होने से आभास चेतन का भी बाध हो जाता है और केवल शुद्ध ब्रह्म अर्ध मात्रा शेष रह जाता है जो अपने निज स्वरूप कूटस्थ आत्मा से घटाकाश महाकाशवत सदा से अभिन्न है। इस प्रकार ब्रह्मरूप अर्धमात्रा में सर्व का लय करके वही मैं हूँ ऐसा दृढ़ निश्चय पूर्वक जो शरीर का त्याग करता है वह ब्रह्म को अभेद रूप से प्राप्त करके पुनः पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता। निष्काम कर्मयोग के द्वारा सांख्य योग शुक्लमार्ग है; क्योंकि अविद्या रात्रि का नाशक है और सकाम कर्म कृष्णमार्ग है। शुक्ल मार्ग से जाने वाला तत्ववेत्ता शुद्ध सनातन अद्वैत ब्रह्म को अभेद रूप से प्राप्त होकर फिर नहीं लौटता, परन्तु कृष्णमार्गी सकामी विषयासक्त बराबर आने-जाने को प्राप्त होता रहता है। सकामी ब्रह्मलोक प्राप्त करके पुनरावृत्ति को प्राप्त होता है; क्योंकि ब्रह्मलोक भी माया-रचित होने से अनित्य कल्पित है। भले ही वहाँ के दिन रात हजार-हजार दिव्य युगों के बराबर हों, परन्तु जागने पर जैसे स्वप्न के देश, काल, वस्तु निद्राजनित होने से तुच्छ हैं उसी प्रकार ज्ञानी की दृष्टि में माया-रचित होने से ब्रह्मलोक के देश, काल, वस्तु भी तुच्छ हैं। भगवान कहते हैं—हे अर्जुन, निष्काम कर्मयोगी बनो क्योंकि निष्काम कर्मयोगी ही सांख्ययोग द्वारा

अविनाशी परब्रह्म को प्राप्त कर सकता है। परमपुरुष परमात्मा का तटस्थ लक्षण क्या है और उसकी प्राप्ति का उपाय क्या है सो सुनो।

८–पुरुषः सपरः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तः स्थानि भूतानि येनसर्वमिदं ततम्। गीता-अ०८-२२।

अर्थात् जैसे तरंगें समुद्र के अन्तर्गत होती हैं और समुद्र जल से तरंगे परिपूर्ण होती हैं उसी प्रकार जिस परमात्मा के अन्तर्गत सर्वभूत हैं और जिस सच्चिदानन्द घन परमात्मा से यह सर्व जगत परिपूर्ण है वही सनातन परम पुरुष परमात्मा है। इसी प्रकार ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय के प्रथमपाद के दूसरे अधिकरण का दूसरा सूत्र है कि:–'जन्माद्यस्ययतः'॥ अर्थात् जिसमें जगत उत्पन्न होता है, स्थित है और लीन होता है वही ब्रह्म है। इसी प्रकार से रामायण में भी भगवान राम का स्वरूप बतलाया गया है कि :–

उमाराम की भृकुटि विलासा, होहि विश्व पुनि पावै नाशा।

जैसे तरंगें समुद्र में हैं तरंगों में समुद्र नहीं क्योंकि तरंगें परिछिन्न और कार्य है और समुद्र व्यापक और कारण है। उसी प्रकार कार्य होने से परिछिन्न जगत अपने आधार व कारण व्यापक परमात्मा में है। परमात्मा जगत में नहीं। परन्तु जैसे समुद्र में वायु के कारण तरंगें भासती हैं उसी प्रकार अनादि अध्यस्त अज्ञान से रज्जु के सामान्यरूप में सर्पवत् ईश्वर और जीव के सामान्य रूप आभास चेतन में समस्त प्रपंच का भान होता है और जीव ईश्वर के विशेष रूप लक्ष्यार्थ साक्षी ब्रह्म

में जगत की उसी प्रकार प्रतीति भी नहीं है जैसे रस्सी के विशेष रूप में सर्प का भान नहीं होता, अथवा जैसे स्वप्न का जाग्रत में भान नहीं होता। अतः रज्जु सर्पवत् जगत का अधिष्ठान परमात्मा है, जिसकी प्राप्ति मछली जलवत् अनन्य प्रेम से ही प्रत्येक प्राणी को हो सकती है। जिस पवित्र गंगा में नाली का गन्दा जल मिलकर पवित्र गंगाजल हो जाता है उस गंगा में जमुना, सरस्वती नदियों का निर्मल जल मिलकर पवित्र गंगा जल क्यों न होगा। उसी प्रकार जिसकी भक्ति रूपी गंगा में वैश्य, शुद्र और शबरी गणिका आदि अधम स्त्रियाँ भी स्नान करके परम पवित्र होकर परमात्मा को प्राप्त हो चुकी हैं फिर यदि उस भक्ति द्वारा ब्रह्मऋषि और राजऋषि ब्रह्म को प्राप्त कर लें तो क्या आश्चर्य है। निष्कामी भक्त वही है जिसने सर्वस्व राजा बलिवत् भगवान को अर्पण कर दिया है। इसलिये भगवान कृष्ण कहते हैं कि :—

९—यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषिददासियत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेयतत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ ९-२७

जो कर्म करो, जो भोजन करो, जो हवन करो, जो दान करो और जो तप करो वह सब मेरे अर्पण करो। अर्थात् जैसे कोचवान घोड़े को घास खिलाता है और सेवा मालिक की मानता है, क्योंकि स्वयं भी मालिक का सेवक है और घोड़ा भी मालिक का है इसी प्रकार निष्काम कर्मयोगी भक्त अपने को सच्चिदानन्द भगवान का सेवक को मानकर और देह को अपने मालिक का घोड़ा मानकर देह को भोजन वस्त्र देना

मालिक की सेवा मानता है। क्योंकि उसको शरीर में भी मैं मेरापन नहीं है। एक भक्त जूते के एक दूकानदार के पास गया और उससे कहा कि भगवान के पैर में जूता पहना दो दुकानदार ने चकित होकर कहा कि यह भगवान का पैर कैसे है ? यह तो तुम्हारा पैर है। भक्त ने उत्तर दिया कि यह जैसे ब्रह्माण्ड में सूर्य चन्द्रादि भगवान के बनाये हुये हैं, मनुष्य कृत नहीं हैं उसी प्रकार पिण्ड में आंख, कान, हाथ पैर भी भगवान के बनाये हुये हैं, मेरे बनाये नहीं हैं। अतः जैसे सूर्य चन्द्रादि से लाभ उठाने पर भी सूर्य चन्द्र किसी मनुष्य के नहीं भगवान के हैं। उसी प्रकार इस शरीर व इसके हाथ-पैरों का मालिक मैं नहीं, मालिक भगवान हैं। इसलिये मैं कहता हूँ कि भगवान के शरीर रूपी घोड़े के पैर में जूता पहना दो। इस शरीर रूपी घोड़े का मालिक, सवार परमात्मा है और जीव सेवक सईस है। जैसे माली बागीचा मालिक का मानकर बागीचा की रक्षा सेवा करते हुये बागीचा का फल भी खाता है परन्तु फलों को मालिक का प्रसाद समझता है। उसी प्रकार बाल्मीक जी भगवान राम को भक्त का लक्षण बतलाते हैं कि :—

तुमहिं निवेदित भोजन करहीं ॐ प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं।

भक्त जो कुछ दान करता है वह निरभिमान हो कर भगवान की आज्ञा समझ कर भगवान की ही सम्पत्ति समझते हुये भगवत स्वरूप विश्व को अथवा भगवान के विश्व को निष्काम भाव से देता है। जैसे स्त्री पति की सम्पत्ति को या पुत्र पिता की सम्पत्ति को भोगता है उसी प्रकार 'सम्पति को सब रघुपति की आही' इस भावना से भावित ममत्वशून्य होकर सुख-दुख को प्रस-

न्नता पूर्वक भोगता हुआ परमात्मा में अनन्य भाव से प्रेम करता हुआ ज्ञान द्वारा अभेद रूप से प्राप्ति कर लेता है। जैसे माता के उदर में रहने वाला गर्भ, माता का मुख नहीं देख सकता, अथवा जैसे मच्छर आकाश का अन्त नहीं देख सकता और जैसे स्वप्न के नर जाग्रत पुरुष को देख जान नहीं सकते उसी प्रकार किसी देवता या महर्षि को भी मेरा ज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि हे अर्जुन!

१०—महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषांलोकइमाः प्रजाः॥ १०-६

सात महर्षि जन और चार उनसे भी पूर्व में होने वाले सनकादि तथा स्वायंभुव आदि चौदह मनु मेरे में भाव वाले मेरे संकल्प से उत्पन्न हुये हैं जिनकी संसार में यह संपूर्ण प्रजा है। फिर मेरे मनोरचित ऋषि आदि मुझे कैसे जान सकते हैं। तात्पर्य यह है कि सारा विश्व मेरा ही विस्तार है। जैसे बीज से जड़ और जड़ से तना और तना से शाखायें और शाखाओं से पत्ते और पत्तों से फूल फल निकलते हैं। परन्तु जैसे यह सब उस छोटे बीज का ही विस्तार है उसी प्रकार मुझ वासुदेव के मन से महर्षि और मनु उत्पन्न हुये और उनसे समस्त लोक उत्पन्न हुये। भगवान के मन को माया और जीव के मन को अविद्या कहते हैं माया समुद्रवत् है और अविद्या माया का अंश होने से तरंगवत् है। जैसे स्वप्न का बगीचा स्वप्न का माली उत्पन्न करता है माली की सन्तान उस बागीचा के फलों का भोग करता है और बागीचे को लगाने वाला माली जाग्रत पुरुष की निद्रा जनित है। उसी प्रकार समस्त लोक स्वप्न के बगीचे हैं और महर्षि मनु आदि

माली हैं। समस्त प्राणी सन्तान है और लोक उत्पन्न करने वाले मालीवत् मनु आदि मुझ सच्चिदानन्द सर्वगत वासुदेव के मनरूप माया से उत्पन्न हुये हैं। अस्तु, अपने संकल्प रचित मनु आदि रूप से मैं सृष्टि का कर्ता भी हूँ ओर परमार्थ स्वरूप से अकर्ता हूँ। उसी प्रकार अपने मन से विस्तार पाये हुए प्रज़ा रूप से भोक्ता भी हूँ और परमार्थ में परब्रह्म रूप से अभोक्ता हूँ। जैसे सम्पूर्ण स्वप्न जगत को सत्ता स्फूर्ति देने वाला स्वप्न द्रष्टा ही होता है उसी प्रकार समस्त जगत को सत्ता स्फूर्ति देनेवाला सर्व का साक्षी सर्वाधिष्ठान स्वयम् प्रकाश सच्चिदानन्द वासुदेव मैं ही हूँ। जैसे बिना जल के तरंग और बिना रज्जु के सर्प सिद्ध नहीं हो सकता उसी प्रकार बिना मेरे कोई भूत प्राणी सिद्ध नहीं हो सकता। जैसे आकाश के एक अंश में नीलमा स्थित है उसी प्रकार मुझ चिदाकाश ब्रह्म के एक अंश में नीलमावत् कल्पित जगत् स्थित है। जैसे प्रत्येक बीज में वृक्ष के विस्तार की सामर्थ्य है उसी प्रकार प्रत्येक जीव के मन में जगत को उत्पन्न करने की सामर्थ्य है। और निद्रा के सहयोग से मन स्वप्न-जगत को उत्पन्न भी करता है, परन्तु मलविक्षेप आवरण से जीवों के मन मलिन हो गये हैं इस कारण मन की शक्ति दब गई है।

अष्टांग योगी मन को शुद्ध करके मन की छिपी शक्ति को प्रकट करके अष्ट सिद्ध सम्पन्न हो जाता है। ईश्वर का मन शुद्ध सत्व प्रधान होने से विराट रूप दिखलाने में स्वभाव से ही समर्थ होता है। योगियों की भाँति भगवान को अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति के लिये साधन की आवश्यकता नहीं होती। भगवान के द्वारा

यह सुन कर कि मैं ही विश्वरूप हूँ और सर्वत्र कान्ति ऐश्वर्य और शक्ति मेरे ही अंश से उत्पन्न हुई है। अर्जुन ने भगवान से विश्वरूप में दर्शन देने की प्रार्थना की। जैसे भगवान राम ने कौशल्या को विराट रूप दिखलाया था यथा :—

दोहा—दिखरावा मातहिं निज, अद्भुत रूप अखण्ड
रोम-रोम प्रति राजत, कोटि-कोटि ब्रह्मण्ड ॥

उसी प्रकार भगवान कृष्ण ने अपने प्रिय सखा अर्जुन को अपना विराट रूप दिखाया और यह भी प्रत्यक्ष दिखला दिया कि कौरवों की प्रारब्ध समाप्त हो चुकी है। उस नाश में निमित्त तुमको बनना है। अतः अपने को निमित्त मात्र समझकर हर्ष शोक रहित होकर नाटक की भाँति कर्तव्य पालन करो। अर्जुन के भयभीत होने पर चतुर्भुज रूप धारण करके भगवान ने अर्जुन को दर्शन दिया और उपदेश दिया कि इस प्रकार मेरे सगुण रूप का दर्शन और निर्गुण रूप का ज्ञान केवल अनन्य भक्ति से ही हो सकता है। मछली जलवत् अनन्य भक्ति के बिना कोई विषयासक्त सकामी यज्ञ, दान, तप स्वाध्याय आदि किसी साधन से भी मुझको प्राप्त नहीं कर सकता इसलिये हे अर्जुन!

११—मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥गीता ११—५५

जैसे विषयासक्त दिन रात सुखहीन होने पर भी अज्ञान वश विषय भोगों के लिये आसक्ति पूर्वक कर्म करता रहता है उसी प्रकार तुम भी मुझ परमानन्द नित्य सर्वगत परमात्मा की प्राप्ति के लिये ही भक्तिपूर्वक समस्त कर्म करो। जैसे सेवक

और उत्तम पतिव्रता के सारे कर्म स्वामी की प्रीत्यर्थ होते हैं उसी प्रकार समस्त कर्म मुझ वासुदेव के प्रसन्नतार्थ करो। भरतजी ने निष्काम कर्मयोगी का आदर्श दिखलाया है, यथा :—

दो० *नित पूजत प्रभु पामरी, प्रीति न हृदय समा ता।*
मागि मागि आयसु करत, राज काज बहु भाँति ॥

चौ० *पुलकत गात हिय सिय रघुवीरू, नाम जीह जपि लोचन नीरू।*
अवध राज सुर राज सिहाहीं, दशरथ धन लखि धनदलजाहीं।
तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा, चंचरीक जिमि चम्पक बागा।
रामचरण पंकज मन जासू, लुब्ध मधुप इव तजहिं न पासू।

जैसे शेठ का मुनीम अथवा राजा का मैनेजर मालिक की समस्त धन सम्पत्ति से ममत्वहीन होकर धन सम्पत्ति की रक्षा मालिक की मानकर मालिक की प्रसन्नता के लिये दिन रात करता रहता है उसी प्रकार हे अर्जुन तुम भी असंग होकर अर्थात ममत्वहीन होकर सेवक-सेव्य भाव से स्वधर्म पालन करो और समस्त विश्व को मेरा मन्दिर समझ कर किसी से द्वेष न करो। भगवान शंकर ने भी माता पार्वतीजी से रामायणमें कहा है कि:—

दो०—*उमा जे राम चरणरत, विगत काम मद क्रोध।*
निज प्रभु मय देखहिं जगत, का सन करहिं विरोध ॥

इस प्रकार की अनन्य भक्ति से साधक को मुझ वासुदेव के रूप का दर्शन और निर्गुण रूप का ज्ञान-विज्ञान प्राप्त होकर मेरे अविनाशी परमधाम की नदी समुद्रवत अभेद रूप से प्राप्ति हो जाती है। अर्जुन ने भगवान से पूछा कि:—आपके सगुण स्वरूप और निर्गुण स्वरूप के उपासकों में कौन श्रेष्ठ है। भगवान ने

उत्तर दिया कि जैसे घी से दूध को श्रेष्ठ समझना चाहिये, क्योंकि दूध अधिकांश सभी को लाभप्रद है परन्तु, घृत केवल स्वस्थ बलवान् को ही पचता है। घृत को रोगी नहीं पचा सकता उसी प्रकार सगुण स्वरूप की उपासना दूधवत् श्रेष्ठ है; क्योंकि देहाभिमानी के लिये निर्गुण का ज्ञानरूपी घृत उसीप्रकार कठिन है जैसे निद्रा में स्वप्न देखने वाले को जाग्रत का ज्ञान कठिन है। सगुण उपासक हो या निर्गुण उपासक हो। हे अर्जुन!

१२-यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभ परित्यागी भक्तिमान्यः स मेप्रियः॥गीता१२-१७

सांसारिक सुखों की प्राप्ति में जो हर्ष नहीं करता ऐसा समझकर कि ये विषयसुख मृगजलवत् असत और विष से भी अधिक दुखदाई और निद्रा की भाँति भगवान को भुलाने वाले और कुपथ्य के समान हानिकारक हैं। जैसे कुत्ता पत्थर मारने वाले से द्वेष करता है पत्थर से द्वेष नहीं करता; क्योंकि पत्थर तो निमित्त मात्र है। शत्रु तो पत्थर मारने वाला है। उसी प्रकार भक्त दुःख मिलने पर जिस प्राणी के द्वारा दुःख मिला उसको निमित्त मात्र समझकर उस प्राणी से द्वेष नहीं करता बल्कि दुखदाता कुकर्म से द्वेष करके कुकर्मों को नाश करता है; क्योंकि :—

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता, निज कृत कर्म भोग सब भ्राता।
अस विचारि केहि दीजिये दोसू, वृथा काहु पर कीजिये रोषू।
कर्म प्रधान विश्व करि राखा, जो जस करे सो तस फल चाखा।
शुभ अरु अशुभ कर्म फल चारी, ईश देत फल हृदय विचारी।
करै जो कर्म पाव फल सोई, निगम नीति अस कह सब कोई।

अतः जिसके द्वारा दुख प्राप्त हुआ है वह उस प्राणी का अनहित नहीं करता है। वह दुःख को पापनाशक कड़ुई दवा समझ कर अथवा समस्त सुख दुःख स्वप्नवत मिथ्या जान कर कभी हर्ष-शोक नहीं करता और दुःख पाने वाले व दुःख देने वाले शरीरों को स्वप्न के शरीर मान कर अपने शरीर से राग और दूसरे से द्वेष नहीं करता। जैसे छोटा बालक माता की गोद में निश्चिन्त रहता है। उसी प्रकार जो भक्त सच्चिदानन्द मुझ वासुदेव के भरोसे निश्चिन्त रहता है। जैसे मछली ज़ल के अतिरिक्त कुछ नहीं; चाहती उसी प्रकार जो मुझ वासुदेव को छोड़कर कुछ नहीं चाहता क्यों कि वह जानता है कि जैसे जल में मक्खन और बालू में तेल नहीं उसी प्रकार संसार के पदार्थों में सुख नहीं। इस कारण सुख के लिये किसी पदार्थ को नहीं चाहता। वह तो केवल भगवान में ही सुख मानकर भगवद्भक्ति में मग्न रहता है। अर्थात अनित्य अशुचि दुःख रूप अनात्म देह में नित्य, शुचि, सुख और आत्मबुद्धि रूप अविद्या व सुख की अभिलाषा रूप राग और सुख में बाधा डालने वाले से द्वेष और बुद्धि के धर्मों में अभिमान रूप अस्मिता और मृत्यु का भयरूप अभिनवेश नामक पंच क्लेशों से जो छूट गया है वह भक्त मेरे को प्रिय है। जैसे मालिक की आज्ञा से बाग़ीचे में माली वृक्षों को लगाता भी है और काटता भी है परन्तु वह न तो वृक्षों को लगाना अच्छा समझता है और न काटना बुरा समझता है। उसको तो केवल मालिक की आज्ञा शिरोधार्य है। उसी प्रकार जो भक्त सारे कर्तव्यों का पालन भगवत् आज्ञा समझ कर करता है। वह निजी हानि लाभ पर कुछ भी विचार नहीं करता। सूत्रधार भगवान की सूत्र-

रूप आज्ञा द्वारा कठपुतली वत् हर्ष शोक रहित सारी चेष्टायें करता है। भगवत आज्ञा रूप स्वधर्म पालन करने में हार हो या जीत हो, लाभ हो या हानि हो, दुख या सुख हो, इस प्रकार की अच्छाई बुराई का जो कुछ भी ध्यान नहीं देता, अथवा जैसे जाग जाने पर स्वप्न के शत्रु और मित्र में, स्वर्ण और पत्थर में, राज्य और भीख में, पाप और पुण्य में, कुछ भी भेद नहीं रहता उसी प्रकार जो परमार्थ सत्ता में जागकर सर्वत्र निर्मोह और निर्द्वन्द्व होकर अभेददर्शी हो गया है; क्योंकि उसकी दृष्टि में आत्माभिन्न सर्वमिथ्या निश्चय हो जाता है। ऐसा भक्त मुझे इस प्रकार प्यारा है जैसे लोभी को धन या माता को बालक प्रिय होता है। अथवा जैसे शीशे में अपना प्रतिबिम्ब प्रिय लगता है। जो शरीर की छाया समझकर अथवा स्वप्नदेह मानकर इसके किये हुए कर्मों का कर्ता भोक्ता न मान कर अपने को शुद्ध सच्चिदानन्दघन अक्रिय आत्मा जानता है वह ज्ञानी भक्त मुझे हे अर्जुन इस प्रकार प्रिय है जैसे महाकाश को घटाकाश प्रिय होता है। भगवान कृष्ण बोले कि अब मैं तुमको आत्मा, अनात्मा और परमात्मा का तत्व बताता हूँ. सावधान होकर सुनो। अन्नमय कोश रूप स्थूल शरीर और प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय कोश से मिलकर बना हुआ पाँच कर्मेन्द्रिय पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच विषय, पाँच प्राण और मन बुद्धिचित्त, अहंकार चौबीस तत्वों का सूक्ष्म शरीर और आनन्द मय कोश रूप अव्यक्त नामक अविद्या रूप कारण शरीर इन तीनों को अनात्मा समझो। अविद्या और अन्तःकरण चेतन के आभास से उसी प्रकार युक्त हैं जैसे जल आकाश के प्रतिबिम्ब से युक्त होता है। अतः तीनों स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीरमय चिदाभास

के अनात्मा, क्षेत्र या शरीर कहलाते हैं जिसमें साभास अविद्या को अक्षर और शेष को क्षर भी कहते हैं; क्योंकि अज्ञान पर्यन्त क्षर के नाश होने पर भी अक्षर का नाश नहीं होता। जैसे आकाश के तीन भेद हैं :—एक महाकाश दूसरा जलावच्छिन्न आकाश और तीसरा प्रतिबिम्बाकाश। उसी प्रकार उपाधि के कारण चेतन भी तीन प्रकार का है एक सर्वत्र परिपूर्ण ब्रह्म जो महाकाशवत है—दूसरा बुद्धि अवच्छिन्न चेतन जो जलावच्छिन्न आकाशवत् है और तीसरा जो बुद्धि में आभास है वह प्रतिबिम्बाकाशवत है। इनमें से केवल चिदाभास सहित बुद्धि ही सर्वकार्य करता है, परन्तु अज्ञानी निर्विकार साक्षी स्वयंप्रकाश आत्मा में कर्तृत्व भोक्तृत्व का आरोप करते हैं जिसको निगम, आगम असंग बतलाते हैं यथा—'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च (श्वे० उ०) असंगो यं पुरुष इति। (सांख्य दर्शन) बुद्धि में चिदाभास और बुद्धि अवच्छिन्न चेतन दोनों मिलकर जीव होता है। जीव का चिदाभास भाग मिथ्या होने से क्षेत्र के अन्तर्गत है। और बुद्धि अवच्छिन्न चेतन को क्षेत्रज्ञ आत्मा कहते हैं जो जीव का मुख्य स्वरूप है। यह क्षेत्रज्ञ आत्मा पूर्णब्रह्म परमात्मा स्वरूप है जो सर्व बुद्धियों का साक्षी सर्व से परे व्यापक सच्चिदानन्द पुरुषोत्तम तत्व है। जीव का मुख्य स्वरूप आत्मा क्षेत्र से पृथक असंग होने पर भी जीव अपने को क्षेत्र से अभिन्न मानता है जिसका कारण योग दर्शन में बतलाया गया है:—'तस्य हेतुरविद्या' अर्थात् उसका हेतु अविद्या है। अविद्या के कारण ही जीव किस प्रकार बन्धन में आता है सो सुनो :—

१३-पुरुषः प्रकृतिस्थोहि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुण सङ्गोऽस्य सदसद्योनि जन्मसु। गीता अ० १३-२१॥

जैसे आकाश से शब्द, जल से तरंगें और लकड़ी से अग्नि प्रकट हो जाती है उसी प्रकार जिस अनादि अव्यक्त मायारूप प्रकृति से समष्टि स्थूल सूक्ष्म शरीर प्रकट होते हैं उसमें स्थित होकर अर्थात् अभेद बुद्धि करके प्रकृति से उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक सब पदार्थों को पुरुष भोक्ता है और इन गुणों में अहं मम भाव रूप संग ही इस जीवात्मा को अच्छी बुरी योनियों में जन्म लेने में कारण है।

पुरुष जीवात्मा के असंग, अखंड, सर्वगत अद्वैत स्वरूप की यह आवरण विक्षेप शक्तिवाली प्रकृति छायावत् जोड़ीदार है। जैसे पुरुष निद्रा के संयोग से स्वप्न का भोग भोगता है उसी प्रकार इस अनादि अज्ञानरूप प्रकृति के संयोग से जीवात्मा गुणों का भोक्ता है और शरीर मन इन्द्रिय रूप में परिणत हुये गुणों के धर्मों को उसी प्रकार अपने धर्म मानता है जैसे पानी के हिलने से चन्द्रमा को हिलता हुआ मान लिया जाये या जैसे तपाये हुये लोहे पर घन की चोटों को अग्निपर पड़ती हुई मान लिया जाये। जैसे जल का हिलना धर्म चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब में भासता है असली चन्द्रमा में भासता भी नहीं उसी प्रकार पुरुष के मिथ्या स्वरूप आभास में गुणों के धर्म भासते हैं मुख्य स्वरूप बुद्धि अवछिन्न चेतन पूर्ण पुरुषोत्तम ब्रह्म से अभिन्न आत्मा में भासते भी नहीं जिसको क्षेत्रज्ञ कहते हैं। हे अर्जुन! तुम अपने को क्षेत्रज्ञ समझो क्षेत्र मत मानों। जैसे घटाकाश को घट मान लेना और घुड़सवार को घोड़ा मान लेना मूर्खता है उसी प्रकार क्षेत्रज्ञ को क्षेत्र मान लेना मूर्खता है। परन्तु 'ज्ञान कि होय बिराग बिनु' अर्थात बिना वैराग्य के ज्ञान नहीं होता। जैसे वमन अन्न और सड़े हुए मृतक कुत्ते के मांस

से अथवा विष और शूकर के विष्ठा से ग्लानि होती है अथवा जैसे जागने पर स्वप्न के पदार्थों की इच्छा नहीं रहती और प्यासे रहने पर भी मृगजल जान कर मृगजल पीने की इच्छा नहीं होती उसी प्रकार जो इस स्वप्न संसार से चिता में जलने वाली सती स्त्री की भाँति पूर्ण विरक्त हो जाता है वही ज्ञान का अधिकारी है। परन्तु ऐसा वैराग्य उसी के हृदय में होता है जिसका हृदय शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान षट सम्पत्ति से युक्त होता है। परन्तु जबतक सतो गुण द्वारा रजोगुण और तमोगुण बिलकुल नहीं दब जाते हैं तब तक षट सम्पत्ति हृदय में उत्पन्न नहीं होती हैं। यदि यह कहो कि जैसे तमोगुण निद्रा आलस्य प्रमाद के संग से बाँधता है उसी प्रकार सतो गुण भी तो ज्ञान और सुख के संग से बांधता है कि मैं ज्ञानी हूँ और सुखी हूँ। फिर सतोगुण की क्या आवश्यकता है? और जैसे तमोगुण के बढ़ने पर पुरुष कीट पशु आदि मूढ़ योनियों में उत्पन्न होता है उसी प्रकार सतोगुण के बढ़ने पर मरा हुआ पुरुष दिव्य स्वर्गादि लोकों को प्राप्त होता है जैसा कि मनुस्मृति में भी कहा है कि :—'देवत्वं सात्विका यान्ति'। अर्थात् सात्वकी पुरुष देवत्व को प्राप्त होता है। परन्तु मुमुक्षु तो ब्रह्म लोक के भोगों में भी वमनवत् घृणा करता है। फिर विरक्त मुमुक्षु को सत्वगुण की भी क्या आवश्यकता है? उसका उत्तर यह है कि जिस ज्ञान से अविद्या का नाश होकर पुरुष को अविनाशी परमधाम की प्राप्ति और जन्म मरण से सदा के के लिये निवृत्ति हो जाती है, वह अध्यात्मज्ञान सत्वगुण से ही उत्पन्न होता है। अतः ज्ञान होने के पूर्व सत्वगुण की परमावश्य-

कता है। जैसे भोजन पकाने के लिये अग्नि और अग्नि को जलाने के लिये लकड़ी की आवश्यकता है। उसी प्रकार भोजन रूप मोक्ष सिद्ध करने के लिये अग्नि रूप ज्ञान और अग्नि रूप ज्ञान के लिये लकड़ी रूप सत्वगुण की आवश्यकता है। हां जब भोजन पक जाये तो अग्नि व लकड़ी बनी रहे या राख हो जाये कोई हानि नहीं। उसी प्रकार ज्ञान से मुक्त होने पर सत्वगुण भी कर्तव्य नहीं क्यों कि ज्ञान होने पर वह पुरुष आकाशवत असंग व्यापक त्रिगुणातीत हो जाता है। जैसे निद्रा से दरिद्र बना हुआ राजा निद्रा टूट जाने पर राजा हो जाता है। अतः

१४—प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥ १४–२२

हे अर्जुन ! त्रिगुणातीत पुरुष तीनों गुणों के कार्य रूप प्रकाश प्रवृत्ति और मोहादि वृत्तियों के प्रकट होने और न होने पर किसी में भी इच्छा द्वेष आदि विकार को उसी प्रकार प्राप्त नहीं होता जैसे वायु के झोकों से आकाश कभी उड़ाया नहीं जा सकता अथवा प्रातःकाल व मध्यानकाल और सायंकाल का सूर्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, अथवा जैसे चन्द्रमा जल में प्रतिबिम्बित होने पर भी नहीं भीगता अथवा जैसे मृगजल की लहरों से सुमेरु पर्वत विचलित नहीं होता, अथवा जैसे स्वप्न की रस्सियों से जाग्रत शरीर बाँधा नहीं जा सकता और जैसे स्वप्न के गंगाजल से जाग्रत शरीर नहलाया नहीं जा सकता। क्योंकि पुरुष पारमार्थिक है और तीनों गुण प्रातिभासिक हैं। त्रिगुणात्मक प्रकृति रूप अज्ञान का बाध दृढ़ अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान से उसी प्रकार हो जाता है जैसे

रस्सी के ज्ञान से रस्सी के अज्ञान का बाध अथवा जाग्रत के ज्ञान से निद्रा का बाध हो जाता है। अस्तु, मूल प्रकृति अथवा मूलाविद्या या अज्ञान को अनादि होने पर भी ज्ञान से निवृत्त हो जाने के कारण सान्त वेदान्त में माना गया है और तत्ववेताओं को दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान द्वारा देहाभिमान रूप अविद्या का बाध अनुभव सिद्ध है। जैसे वायु के नाश होने पर तरंग समुद्र हो जाती है उसी प्रकार देहाभिमान रूपी वायु के नाश हो जाने पर पुरुष पुरुषोत्तम ब्रह्म हो जाता है। जैसे घट मठ उपाधियों के कारण उपाधि और आकाश के अविवेक से उपाधि का धर्म नानात्व आकाश में प्रतीत होता है।

उसी प्रकार बुद्धि और आत्मा के अविवेक से बुद्धि के धर्म-नानात्व, कर्तव्य और बन्ध मोक्ष आत्मा में प्रतीत होते हैं। ज्ञान होने पर आत्मा सदा से मुक्त असंग है यह सांख्य दर्शनका भी सिद्धान्त है, परन्तु सांख्य दर्शन में असंग व्यापक नाना पुरुष माने गये हैं। जब बन्ध मोक्ष आत्मा के धर्म माने जायें तो यह कहा जा सकता है कि कोई आत्मा बद्ध है और कोई आत्मा मुक्त है। इस कारण नाना हैं। परन्तु बन्ध मोक्ष असंग नित्य मुक्त आत्मामें रज्जु सर्पवत् अज्ञान जनित है। अतः नित्य मुक्त असंग आत्मा में नानापना भी अज्ञान जनित है। इसलिये आत्मा असंग व्यापक अद्वैत है। जैसे मृगजल का आश्रय आधार होने से सूर्यकिरण को मूल कह सकते हैं उसी प्रकार इस क्षणभंगुर कल्पित संसार वृक्ष का आश्रय अधिष्ठान होने से असंग अद्वैत सर्वात्मा ब्रह्म मूल है। मूल स्वरूप ब्रह्म की विस्मृति रूप सुषुप्ति अवस्था इस संसार वृक्ष का तना है और स्वप्न व जाग्रत

अवस्थायें तने के आगे का विस्तार हैं। जैसे सूर्य किरणों में तीनों काल में मृगजल नहीं उसी प्रकार तीनों अवस्थाओं के साक्षी आत्मा में संसार तीनों काल में नहीं। यथा :—

दो० रजत सीप मंह भास जिमि, यथा भानु कर वारि।
यदपि मृषातिहुँ काल में, भ्रम न सके कोउ टारि॥

चौ० यहि विधि जग हरि आश्रित रहई, यदपि असत्य देत दुख बहुई।

जैसे शून्य एक अंक के दाहिनी ओर संयोग पाकर दस, सौ, हजार होता जाता है और एक से भिन्न करने पर शून्य कुछ नहीं रहता और शून्य के बिना एक भी एक ही है अनेक नहीं। इसी प्रकार स्वरूप की विस्मृति रूप सुषुप्ति अवस्थावाली शून्य अविद्या के संयोग से तुरीय साक्षी स्वयं प्रकाश सच्चिदानन्द पुरुषोत्तम ब्रह्मात्मा सूक्ष्म, स्थूल प्रपंच के रूप में विवर्त रूप से अनेक रूप होकर प्रतीत होता है। परन्तु जैसे सूर्य में अन्धकार नहीं उसी प्रकार निज स्वरूप पूर्ण पुरुषोत्तम में प्रपंच नहीं। जैसे रस्सी की सत्ता से सर्प में और द्रष्टा की सत्ता से स्वप्न में सत्ता भासती है उसी प्रकार आदि मध्य अन्त से रहित पुरुषोत्तम परमात्मा की सत्ता से अध्यस्त संसार-वृक्ष भी आदि-मध्य-अन्त से रहित सत्य भासता है। परन्तु जैसे मृगजल की नदी न तो किसी पर्वत से निकलती है और न किसी मैदान में बहती है और न किसी समुद्र में गिरती है उसी प्रकार विचार काल में यह अनिर्वचनीय कल्पित संसार मृग-जल की नदीवत् आदि-अन्त-मध्य से रहित है; क्योंकि इसकी तीनो काल में स्वप्न की भाँति उत्पत्ति ही नहीं हुई केवल अज्ञान से प्रतीत

होता है। अज्ञान पर्यन्त पंच कोशों व तीनों अवस्थाओं और तीनों शरीरों को वस्त्रों की भांति ग्रहण त्याग करता हुआ भी मूर्ख अपने स्वरूप को सर्व से पृथक साक्षी नहीं जान पाता है। जैसे उत्तर की ओर रात में तारों के साथ ध्रुवतारा को भी देखते हुये सब लोग ध्रुव तारा को पहचान नहीं पाते। परन्तु जैसे ज्ञान होने पर दशम पुरुष अपने को जान लेता है कि नौ को जानने वाला मैं नौ से पृथक दशम हूँ इसी प्रकार तत्ववेत्ता अपरोक्ष रूप से जानता है कि तीनो अवस्थाओं और तीनो देहों का जानने वाला मैं सर्व से पृथक और सर्व का साक्षी हूँ। अन्तःकरण वृत्ति द्वारा मैं जाग्रत व स्वप्न को जानता हूँ और अविद्या की वृत्ति द्वारा सुषुप्ति को जानता हूँ और अन्तःकरण और अविद्या अर्थात् सूक्ष्म और कारण वृत्ति से रहित मैं नित्य ज्ञान स्वरूप हूँ, ज्ञाता नहीं क्योंकि सूर्य में अन्धकार की भाँति मुझ साक्षी अधिष्ठान सामान्य चैतन्य में स्थूल सूक्ष्म कारण प्रपंच का अत्यन्ताभाव है। जैसे जल द्वारा सूर्य का प्रतिबिम्ब एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता है उसी प्रकार एक शरीर को त्यागकर दूसरे शरीर में सूक्ष्म शरीर द्वारा चिदाभास जाता है। जैसे मृग जल और मृग दोनों से सूर्य किरण प्रथक होती है। उसी प्रकार मृगजल रूप पंच भौतिक प्रपंच क्षर पुरुष से और मृग रूप साभास अविद्या अक्षर पुरुष से सूर्य किरणरूप पुरुषोत्तम परमात्मा प्रथक अन्य है जैसे छाया से वृक्ष प्रथक अन्य होता है। जैसे मनुष्यों की अपेक्षा से देवता अमर कहे जाते हैं उसी प्रकार क्षर की अपेक्षा से साभास अविद्या अक्षर कहलाती हैं चूँकि प्रलय, सुषुप्ति में पंच भौतिक स्थूल सूक्ष्म प्रपंच कारण में लय हो जाने पर भी कारण

अविद्या चिदाभास से युक्त होकर शेष रहती है, इस कारण पंच भौतिक स्थूल सूक्ष्म प्रपंच क्षर पुरुष है और कारण साभास अविद्या अक्षर पुरुष है। परन्तु ज्ञान से साभास अविद्या का भी अत्यन्त नाश हो जाता है और साभास अविद्या के नाश होने पर भी पुरुषोत्तम परमात्मा शेष रह जाता है। अतः क्षर पुरुष और अक्षर पुरुष दोनों से अन्य होने से और दोनों का साक्षी अधिष्ठान होने से परमात्मा को पुरुषोत्तम कहते हैं। अब यह प्रश्न है कि परमात्मा कहाँ है। और यदि सर्वत्र है तो सूर्य, चन्द्र व अग्नि के प्रकाश में अन्य वस्तुओं की भाँति दिखाई क्यों नहीं पड़ता। उसका उत्तर भगवान कृष्ण के इस वचन से हो जायेगा :—

१५–नतद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम। गीता अ० १५-६

जैसे चन्द्रमा से चन्द्रमण्डल और आकाश से अवकाश और सूर्य से प्रकाश अभिन्न है उसी प्रकार पुरुषोत्तम भगवान से पुरुषोत्तम भगवान का परमधाम अभिन्न है। जैसे वस्त्र में सूत, भूषण में स्वर्ण, तरंगों में जल अथवानीलमा में आकाश और कल्पित सर्प में रस्सी सर्वत्र परिपूर्ण है वैसे ही प्रपंच में पुरुषोत्तम परमधाम स्वरूप परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण है। परन्तु जैसे स्वप्न के सूर्यचन्द्र अग्नि का प्रकाश जाग्रत में नहीं पहुँच सकता उसी प्रकार मिथ्या जाग्रत के सूर्य, चन्द्र व अग्निका प्रकाश सच्चिदानन्द पुरुषोत्तम परमात्मा के परम धाम में नहीं पहुँच सकता क्योंकि सूर्य-चन्द्र और अग्नि में उस परमात्मा का ही प्रकाश है, जैसे कल्पित रजत में सीप का ही प्रकाश होता है। क्योंकि सूर्य चन्द्रादि प्रातिभासिक और परमात्मा पारमार्थिक है। इस कारण स्वयंप्रकाश पुरुषोत्तम

परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण होने पर भी प्रातिभासिक नकाश्य और दृश्य सूर्य चन्द्रादि से प्रकाशित नहीं हो सकता। यदि कहो ब्रह्मज्ञान भी तो प्रातिभासिक शुद्ध अन्तःकरण की वृत्ति है तो उससे भी द्रष्टा साक्षी का ज्ञान कैसे होगा। उसका उत्तर यह है कि ब्रह्मज्ञान का विषय ब्रह्म घट ज्ञानवत् पृथक दृश्यरूप से नहीं हो सकता। जैसे निन्द्रा टूटने पर स्वप्न का भिखारी जाग्रत में राजा हो जाता है क्योंकि निन्द्रा से राजा ही स्वप्न में भिखारी सा हो गया था। परन्तु स्वप्न का भिखारी जाग्रत के अपने राजा स्वरूप को स्वप्न नेत्रों से प्रथक कदापि नहीं देख सकता। स्वप्न के राजा को भले देख ले। उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान से अज्ञान निद्रा का नाश होकर ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म हो जाता है। ब्रह्म वृत्ति का दृश्य नहीं हो सकता। अस्तु ज्ञान का प्रयोजन अज्ञान को नाश कर देना है द्रष्टा को दृश्य बना देना ज्ञान का प्रयोजन नहीं। जैसे निन्द्रा टूटने पर जाग्रत शरीर के पैरों से स्वप्न में भ्रमण नहीं हो सकता। उसी प्रकार अज्ञान निन्द्रा के नाश होने पर परम ब्रह्म परमधाम परमात्मा को प्राप्त होकर फिर स्वप्नवत् संसार में लौटकर चौरासी लक्ष योनियों में भ्रमण नहीं हो सकता। पुनरावृत्ति सदा के लिए समाप्त हो जाती है। क्योंकि जैसे निद्रा जाने के बाद फिर आ जाती है वैसे अज्ञान ज्ञान द्वारा नाश होकर फिर कभी नहीं पैदा होता। जैसे रस्सी का अज्ञान प्रकाश द्वारा नाश होकर फिर सर्प भ्रम को कभी पैदा नहीं करता।

खरगोश के कानों को एक बार अच्छी प्रकार देख लेने पर फिर कभी उनमें सींगों का भ्रम नहीं होता। वैसे ही ज्ञान से सदा के लिए अज्ञान सहित कार्य का अत्यन्त नाश हो जाता है।

घट जैसे प्रतीति कालमें भी मृत्तिका ही है उसी प्रकार प्रारब्ध पर्यन्त जीवन्मुक्त को छायावत दृश्य प्रतीत होने पर भी अद्वैत ब्रह्म ही है और प्रारब्ध रूप शीशा नाश होने पर दृश्य रूप प्रतिविम्ब की प्रतीति भी लोप हो जाती है। जैसे रस्सी के सामान्य रूप के भी अज्ञान काल में सर्प की प्रतीति नहीं परन्तु मिथ्या सर्प के सत्यता के संस्कार हैं और रस्सी के विशेष रूप के ज्ञान काल में सर्प की प्रतीति भी नहीं और संस्कार भी नहीं। इस कारण रस्सी के अज्ञान के बाद सामान्य ज्ञान होने पर सर्प फिर सत्य प्रतीति होने लगता है। और रस्सी के ज्ञान होने पर सर्प का सदा के लिये बाध हो जाता है। उसी प्रकार सुषुप्ति व प्रलय में और ज्ञान प्रलय अर्थात् मोक्ष में प्रपंच की प्रतीति नहीं है। परन्तु अज्ञान शेष होने से प्रलय, सुषुप्ति के बाद फिर प्रपंच प्रतीत होता है परन्तु ज्ञान प्रलय होने पर फिर कभी भी प्रपंच की प्रतीति नहीं होती। जैसे समुद्र में मिल कर नदी समुद्र हो जाती है और नदी का बहना बन्द हो जाता है। उसी प्रकार ज्ञान से अज्ञान नाश होने पर जीव परमानन्दब्रह्म स्वरूप हो जाता है और जन्म मरण रूप संसार की सदा के लिये निवृत्ति हो जाती है। इसी को मोक्ष कहते हैं। जैसे निद्रा से स्वप्न में जीव भटकता रहता है उसी प्रकार स्वरूप की अनादि विस्मृति से रचित तीनों गुणों के द्वारा यह जीव देव मनुष्य तिर्यक पशु पक्षी स्थावर योंनियों में बराबर अनादि काल से जन्म मरणादि दुःखों को अज्ञान पर्यन्त भोगता है। इसी को बन्धन कहते हैं। भगवान कृष्ण बोले कि मोक्ष देने वाला कौन है और बन्धन करने वाला कौन है, इसका निर्णय ध्यान पूर्वक सुनो :—

१६—दैवी सम्पद्वि मोक्षाय, निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव। गी०अ० १६-५।

दैवी सम्पदा अर्थात् अभय, अन्तःकरण की स्वच्छता, तत्वज्ञान की दृढ़ स्थिति, सात्वकी दान, इन्द्रियों का दमन, यज्ञ स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, क्रोध न करना, कामनाओं का त्याग, शान्ति, किसी की निन्दा न करना, दया, विषयाशक्ति का अभाव, कोमलता, पापों से लज्जा, व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, बाहर भीतर की शुद्धि, किसी से भी शत्रु भाव न होना और अपने में पूज्यता के अभिमान का अभाव ये सब छब्बीस दैवीगुण मोक्षदायक होने से अमृत के समान हैं। इन गुणों से विपरीत आसुरी गुण बन्धन कारक होने से विष के समान हैं। उनमें बलात्कार से इच्छा न होने पर भी पापों में लगा देने वाले काम क्रोध लोभ महान भयंकर हैं और ये तीनों नरक के द्वार हैं। गीता रूपी समुद्र के मन्थन से दैवी सम्पदा रूपी अमृत और आसुरी सम्पदा रूपी विष निकाला गया है। जो इस विष को त्यागकर अमृत पियेगा वह देवता अवश्य जन्म मरण से छूट कर अमर परम धाम को प्राप्त होगा।

हे अर्जुन! आसुरी सम्पदा रूप विष पान करने वाले शोच-नीय हैं क्योकि वे नरक में जायेंगे। तुम शोक मत करो क्योंकि दैवी सम्पदा को प्राप्त करने से तुमको मोक्ष की प्राप्ति होगी। जो मोक्ष अर्थात् दुःखों से सदा के लिये छुट्टी चाहता है उसको इस सोलहवें अध्याय को नित्य स्मरण और आचरण करने का अभ्यास करना चाहिये। शरीर रूपी मन्दिर में सात्विकी श्रद्धा रूप गऊ है जिसके छब्बीस दैवी गुण बछड़े हैं। जीव गोपाल

है। सात्विकी यज्ञ दान तप दूध है और सात्विकी आहार घास है। यदि गाय को घास नहीं खिलाई जायगी तो दूध नहीं होगा और दूध न होने से बछड़े व गाय दुर्बल होकर मरने लगेंगे। जिनकी हत्या से जीव रूपी गोपाल को नर्क होगा। अस्तु सात्विकी आहार अति आवश्यक है। राजसी तामसी आहार करने वाले की मन इन्द्रियाँ दमन नहीं हो सकतीं जैसा कि कहा गया है :—

विश्वामित्र पराशर प्रभ्रतयो वाताम्बुपर्णाशिना।
स्तेऽपि स्त्रीमुख पंकजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहंगताः॥
शाल्यन्नं स घ्रतं पयोदधियुतं ये भुञ्जते मानवा।
स्तेषामिन्द्रिय निग्रहो यदि भवेद्विन्ध्यस्तरैत्सागरे॥

अर्थात् वायु जल और पत्तों को खाकर रहने वाले विश्वामित्र, पराशर मुनि आदि भी स्त्री के कमलमुख को देख कर मोह में फंस गये। फिर यदि चावल को घृत, दुग्ध, दधि के साथ खाने वालों की इन्द्रियाँ वश में हो जायें तो विन्ध्याचलपर्वत भी समुद्र पर तैर सकता है। अतः इन्द्रियों को वश में करने के लिये सात्वकी आहार जैसे मीठे रसयुक्त ताजे चिकने शीघ्र पचने वाले पदार्थ उचित मात्रा में सेवन करना चाहिये और खट्टे कड़वे नमकीन अति गरम राजसी भोजन का और बासी अपवित्र दुर्गन्धियुक्त मांस मदिरा आदि तामसी भोजन का विष वत परित्याग करना चाहिये। भोजन का प्रधान लक्ष्य शरीर रक्षा है। रसना का गुलाम नहीं होना चाहिये। यज्ञ दान तप भी सात्वकी राजसी तामसी भेद से प्रत्येक तीन प्रकार के हैं। जिनके लिये सात्विकी श्रद्धा अत्यावश्यक हैं क्योंक :—

१७—अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्यनोइहि ॥
गीता अ० १७-२८॥

हे अर्जुन बिना सात्विकी श्रद्धा के होमा हुआ हवन तथा दिया हुआ दान और तपा हुआ तप और जो कुछ किया हुआ कर्म है वह समस्त असत है और न तो इस लोक में और न परलोक में कल्याण करता है। अस्तु समस्त सात्वकी कर्मों को सात्विकी श्रद्धा प्राण के समान है। राजसी तामसी श्रद्धा मदार बृक्ष के समान है और उससे उत्पन्न हुये राजसी तामसी कर्म मदार के दूध के समान विवेक वैराग्य रूपी नेत्रों के घातक हैं। जैसे ब्रह्मा द्वारा गौओं की चोरी हो जाने पर भी गोविन्द पुरुषोत्तम भगवान कृष्ण की कृपा से गोपालों की गउओं की प्राप्ति हो गई उसी प्रकार शरीर रूपी मंदिर में जीव रूपी गोपाल को उन पूर्ण पुरुषोत्तम परात्पर ब्रह्म के ओंतत्सत नाम के स्मरण से सात्वकी श्रद्धा रूपी गऊ प्राप्त हो सकती है जो परमात्मा सभी शरीर रूपी मन्दिरों में तरंगों में जल और भूषणों में स्वर्ण और स्वप्न में स्वप्नदृष्टा की भांति विराजमान हैं। ब्रह्म के नाम को स्मरण करते हुये सदोष कर्म भी इस प्रकार सत हो जाते हैं जैसे पारस के साथ लोहा सोना हो जाता है। ऐसा उपदेश करके भगवान कृष्ण को मौन देखकर अर्जुन ने पूरी गीता दोहराने के लिए मार्मिक प्रश्न किया कि हे विश्वेशप्रभो ! सिद्धि असिद्धि में समत्व भाव रूप योग में आरूढ़ होने की इच्छा वाले को निष्काम कर्म कर्तव्य है और योगारूढ़ को कामनाओं का त्याग करके सन्यास कर्तव्य है यहाँ तक मैं समझ गया। अब त्याग और सन्यास को

अलग अलग समझाने को कृपा कीजिये। त्याग से निष्काम कर्म और सन्यास से सांख्य योग समझना चाहिये। भगवान बोले हे अर्जुन कोई रोगी मोह से औषध को विष समझकर त्याग दे तो यह तामस त्याग हुआ और कोई दूसरा रोगी औषध को कड़ुई समझ कर पीने में कष्ट होगा इस डर से औषध का त्याग करता है तो इसको राजसी त्याग कहते हैं। और औषध को रोग नाशक समझ कर सेवन करते हुये कुपथ्य का त्याग करना सात्विकी त्याग है। रोग नाश होने पर औषध आदि की आवश्यकता न रहना सन्यास समझना चाहिये। इसी प्रकार यज्ञ, दान, तप औषधवत मलविक्षेप रोगों के नाशक हैं इनका त्याग नहीं करना चाहिये। कामना रूपी कुपथ्य का त्याग सात्वकी त्याग या निष्काम कर्म योग कहलाता है। पापों को करने के स्वभाव को मल समझना चाहिये और विषयासक्ति रूप चंचलता को विक्षेप जानना चाहिये जैसे लाख प्रयत्न करने पर भी ठूंठ की छाया स्थिर नहीं रह सकती। निद्रा पर्यन्त स्वप्न देह जैसे निष्क्रिय नहीं हो सकती उसी प्रकार अज्ञान निद्रा पर्यन्त यह छाया और स्वप्नवत शरीर निष्क्रिय नहीं हो सकता। कितना भी हठ त्याग किया जाये। चलना बैठना लेटना खाना पीना सोना आदि क्रियायें तो अवश्य रह जायेगी और अज्ञान पर्यन्त उनमें अभिमान होगा कि मैं बैठा हूँ लेटा हूँ चलता हूँ इत्यादि। यद्यपि छाया व स्वप्नवत शरीर की क्रियाओं से ठूंठ और जाग्रत देह वत आत्मा न किसी क्रिया का कर्ता है न कर्म है परन्तु अपने अक्रिय असंग परमार्थस्वरूप सच्चिदानन्द को जानता नहीं और उलटा देह में अभिमान करता है। इस कारण जैसे कोई मूर्ख घट के धर्मों को घटाकाश

में मान ले उसी प्रकार शरीर की क्रियाओं को देहाभिमानी आकाश-वत असंग अपने स्वरूप कूटस्थ आत्मा में मानता है। कर्तापन के अभिमान पूर्वक देह मन इन्द्रियों की क्रियाओं को कर्म कहते हैं। कर्तापन के अभिमान से रहित क्रियायें पाप पुण्य रूप कर्म नहीं। यदि अभिमान के बिना भी क्रियाओं को पाप पुण्य माना जाये तो तलवार बन्दूकों को भी स्वर्ग नर्क होना चाहिये और स्वप्न देह से किये हुये पाप पुण्य का फल जाग्रत में मिलना चाहिये जैसे स्वप्न में वर्षा होने से स्वप्न का आकाश भी नहीं भींगता फिर जाग्रत का आकाश कैसे भीग सकता है उसी प्रकार कर्ता भोक्ता पन बुद्धि के धर्म हैं चिदाभास के भी नहीं फिर विम्ब स्वरूप कूटस्थ आत्मा के कैसे हो सकते हैं। जैसे शीशा के अभाव हो जाने पर प्रतिविम्ब का भी अभाव हो जाता है। तब प्रतिविम्ब से रहित केवल विम्ब स्वरूप मुख शेष रहता है उसी प्रकार बुद्धि रूपी शीशा के अभाव हो जाने पर बुद्धि के अभिमानी चिदा भास का भी अभाव हो जाता है। तब केवल विम्ब स्वरूप सच्चिदानन्द अद्वैत आत्मा शेष रहता है वह आकाश वत व्यापक और ठूंठवत अचल है और जिन्दा मुर्दा सर्व शरीरों में उसी प्रकार सर्वदा विद्य-मान रहता है जैसे आकाश जल पूर्ण घटों में और जल हीन घटों में सर्वत्र परिपूर्ण है और सर्व के धर्मों से असंग भी है। यदि जीवित देह के सुख दुःख का ज्ञाता पारमार्थिक आत्मा है तो वह मुर्दा में भी है फिर मुर्दा के जलने का दुख और केश नख काटने का दुख आत्मा क्यों अनुभव नहीं करता। अस्तु शरीर, साभास बुद्धि, इन्द्रियां, प्राण और इन्द्रियों के देवता मिलकर कर्म के हेतु हैं। आत्मा सर्व को लोहे में चुम्बक व

स्वप्न में स्वप्नद्रष्टा के समान केवल सत्ता स्फूर्ति प्रदान करता है। स्वरूप के ज्ञान द्वारा कर्तापन का अभिमान न रहने पर तीनों लोकों को मारने पर भी फल का भागी नहीं होता। जैसे जाग जाने पर स्वप्न देह का अभिमान नष्ट हो जाने के कारण स्वप्न में की हुई ब्रह्म हत्या का भी पाप नष्ट हो जाता है उसी प्रकार देहाभिमान का ज्ञान द्वारा बाध हो जाने पर भुने बीज वत समस्त पाप पुण्य कर्म जन्म रूप अंकुर उत्पन्न करने में असमर्थ हो जाते हैं। परन्तु इस ज्ञान घृत का अधिकारी मनुष्य तब होता है जब अपने स्वधर्म रूप औषध का ईश्वरार्थ सेवन करके मल विक्षेप रहित हो जाये। तब योगारूढ़ होकर शम दम पूर्वक एकान्त सेवी मिताहारी बन कर काम क्रोधादि विकारों को त्याग कर दृढ़ वैराग्य को प्राप्त होकर निरन्तर तत्परता से वेदान्त शास्त्र का श्रवण मनन निदिध्यासन किया करे और दृढ़ अपरोक्ष ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करके कर्तापने के अभिमान से रहित होकर सब कर्तव्यों से रहित हो जाये इसी को सन्यास या संख्या योग समझना चाहिये। जैसे रोगियों की औषधियों में भेद है। रोग नाश होने पर घृत में भेद नहीं उसी प्रकार चारों वर्णों के स्वधम रूप। औषध में भेद है। स्वधर्म द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होने पर चारों वर्ण ज्ञान के समान अधिकारी हैं। यदि देवालय में पूजा बन्द होकर नित्य वेश्याओं का नाच होने लगे तो वह देवालय रहते हुए भी देवालय नही। इसी प्रकार शम, दम, तप, शौच, क्षमा, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक बुद्धि रूप स्वाभाविक कर्म वाले ब्राह्मण में यदि चोरी हिन्सा व्यभिचार असत्य, तृष्णा, द्रोह आदि आसुरी लक्षण आजायें तो वह पृथ्वी का देवता होने पर

भी असुर है और नरक का अधिकारी है और यदि कोई शूद्र निष्काम निर्भिमान सेवाभाव और सत्य दया क्षमा सन्तोष विचार से युक्त है तो वह शूद्र होने पर भी देवता के समान है और मोक्ष का अधिकारी हैं । जैसे सधवा और विधवा के विशेष धर्मों में भेद है विधवा को सधवा की और सधवा को विधवा की नकल नहीं करना चाहिये । परन्तु भगवत भजन सत्य दया क्षमा आदि सामान्य धर्म दोनों के लिये समान है इसी प्रकार विशेष धर्म शूद्र के सेवा, वैश्य के कृषि गो-रक्षा, व्यापार, क्षत्री के दान, युद्धादि और ब्राह्मणों के तपादि हैं जिनमें परस्पर भेद हैं परन्तु सामान्य धर्म में भेद नहीं ।

जो क्षत्री वैश्य शूद्र के लिये शम दम ज्ञान भजनादि सामान्य धर्म हैं वे ब्राह्मण के स्वाभाविक धर्म हैं। परन्तु कर्तापन के अभिमान पूर्वक समस्त कर्म कर्तव्य हैं क्योंकि कर्ता का ही कर्तव्य होता है अकर्ता का कर्तव्य नहीं । इसलिये हे—अर्जुन !

१८–सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणंव्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्योमोक्षयिष्यामिमाशुचः ॥

गीता अ० १८–६६

सर्वधर्मों का त्याग कर मेरी शरण लो । जैसे देह की छाया के धर्म देह के धर्म नहीं हो सकते उसी प्रकार देह के धर्म देही के धर्म नहीं हो सकते । परन्तु मुझ सच्चिदानन्द की अनन्य शरण प्राप्त करने पर ही सर्व धर्मों का त्याग हो सकता है। जैसे कि एक बालब्रह्मचारी ने स्वप्न में अपने पुत्र को गाय पर तलवार चलाते देखा । उसने जाकर क्रोधी कसाई पुत्र की तलवार पकड़ ली परन्तु वह पुत्र किसी तरह नहीं मानता था । उस स्वप्नावस्था में

वह पिता बाल ब्रह्मचारी धर्म संकट में पड़ गया कि यदि गऊ को बचाते हैं तो पुत्र को जान से मारना पड़ेगा नहीं तो यह गऊ को कदपि नहीं छोड़ेगा। और यदि पुत्र को छोड़ देते हैं तो गऊ की जान नहीं बचेगी। वह पुत्र की ममता के कारण धर्म का निर्णय करने में व्याकुल हो गया। इस बीच में आंख खुल गई। अपने को गंगा तट पर अपनी कुटी में पाया और जाग्रत में सोचने लगा कि यह जाग्रत भी स्वप्नवत है स्वप्न की भांति ममत्व के कारण धर्म संकट में यहाँ तो कदापि नहीं पड़ूगा क्योंकि अज्ञान निद्रा जनित देह दृश्य में अहं मम करने से ही समस्त शोक उत्पन्न होते हैं। भगवत शरणागति रूप जाग्रत अवस्था प्राप्त होने पर उस ब्रह्मचारी की भाति धर्म संकट दूर हो जाता है क्योंकि देहाभिमान दूर हो जाने पर स्वप्नवत लोक संग्रह के लिये समस्त कार्यों के करने में भय और पाप नहीं होता। एक सेठ के पुत्र को पैदा होते ही एक चोर चुरा ले गया। वही पुत्र युवा होने पर अपने अज्ञात पिता शेठ की दुकान पर मुनीम हो गया। कोई पूछता था कि तुम कौन हो ? मुनीम उत्तर देता था कि मैं अमुक सेठ का सेवक हूँ। इसी प्रकार प्रथम में द्रोपदी की भांति भक्त अपने को भगवान के अधीन छोड़ देता है। यह तस्यैवाहं शरणागति है। वह मुनीम इतनी सच्चाई और निष्कामता और भक्ति से अपने मालिक का काम करने लगा कि सेठ जी ने दुकान उस मुनीम पर छोड़ दी। सेठ जी कभी कोई हिसाब किताब नहीं करते थे और लड़के के समान प्रेम करने लगे। मुनीम को भी सेठ पर जोर हो गया। जो मुनीम कहता था वही सेठजी स्वीकार कर लेते थे। अब कोई पूछता था कि तुम

कौन हो दुकान किसकी है। मुनीम अभिमान पूर्वक उत्तर देता था कि मेरे सेठ की दुकान है और सेठ मेरा मालिक है और सेठ पर मुझे पूरा अधिकार है। इस प्रकार अधिक अनुराग बढ़ने पर भक्त की दीनता दूर हो जाती है और भगवत बल प्राप्त करके प्रहलाद की भांति निर्भय हो जाता है क्योंकि वह सर्वत्र भगवान को देखने लगता है। प्रथम शपणागत भगवान को अन्य पुरुष मानता है और दूसरा शरणागत भगवान को मध्यम पुरुष मानता है। इसी को 'ममैवासो' शरणागति कहते हैं। अब उस चोर द्वारा उस मुनीम व सेठ को पता लग गया कि वे पुत्र व पिता हैं। यह जान कर कि सेठ मेरा पिता है, मुनीम पिता के चरणो में मस्तक रख कर लम्बा लेट गया और आनन्द में भर कर सेठ ने अपने पुत्र को गोद में ले लिया और उसको सेठ बना दिया। अब कोई उस सेठ के पुत्र से पूछता था कि तुम कौन हो? तो उत्तर देता था कि मैं सेठ हूँ। भगवान में अनन्यता हो जाने से देहाभिमान नष्ट हो जाने पर जैसे घट फूटने पर घटाकाश महाकाश हो जाता है अथवा शीशा फूट जाने पर प्रतिविम्ब विम्ब हो जाता है अथवा स्वप्न में अपने को भिखारी देखने वाला राजा जागकर राजा हो जाता है। उसी प्रकार जीव ब्रह्म हो जाता है और उसकी धारणा हो जाती है 'सएवाहं अर्थात् वही परमात्मा मैं हूँ।

यह तीसरी अन्तिम अनन्य शरणागति है। सभी प्राणी सदा जीने की व कुछ न कुछ जानने की और आनन्द की इच्छा को पूरा करने में लगे रहते हैं परन्तु मृग जल के लिये भटकने वाले

प्यासे मृगवत् इच्छा पूरी न होने पर शोक में व्याकुल रहते हैं। जब सत चेतन आनन्द स्वरूप ब्रह्म मैं ही हूँ ऐसा दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है तब जैसे सूर्य में प्रकाश को कमी नहीं और रात्रि का पता नहीं उसी प्रकार अपने स्वरूप में आनन्द की कमी नहीं रहती और शोक का पता नहीं चलता। जैसे एक शरीर में नेत्र द्वारा केवल मैं रूप का द्रष्टा हूँ अन्य विषयों को नेत्र द्वारा नहीं जान सकता। परन्तु सर्व इन्द्रियों द्वारा सर्वविषयों का ज्ञाता हूँ। और सुषुप्ति में इन्द्रियों के बिना किसी विषय को नहीं जानता, ज्ञान स्वरूप से शेष रहता हूँ क्योंकि यदि ज्ञान स्वरूप से मैं शेष न रहूँ तो सुषुप्ति का ज्ञान नहीं हो सकता था। इसी प्रकार एक अन्तःकरण अथवा अविद्या द्वारा मैं ही अल्पज्ञ हूँ और समष्टि अन्तःकरण अथवा माया द्वारा मैं ही सर्वज्ञ हूँ और अविद्या माया विना न मैं अल्पज्ञ हूँ न सर्वज्ञ हूँ, निर्द्वैत सच्चिदानन्द घन सजातीय विजातीय स्वगत भेद से रहित ब्रह्म हूँ। ऐसी अनन्य शरणागति प्राप्त होने पर जैसे नेत्र सर्वत्र रूप को ही विषय करते हैं उसी प्रकार उस ब्रह्मनिष्ठ जीवन्मुक्त की बुद्धि केवल एक ब्रह्म को ही सर्वत्र विषय करती है। इस प्रकार के ज्ञान सूर्य के उदय होने पर अनादि अज्ञान का इस प्रकार से अन्त हो जाता है जैसे सूर्य उदय हो जाने पर आकाश में अन्धकार का अन्त हो जाता है। जैसे सूर्य के अन्त होने पर मृगजल की प्रतीति भी समाप्त हो जाती है उसी प्रकार प्रारब्ध का क्षय होने पर प्रपंच की प्रतीति सदा के लिये समाप्त हो जाती है। ब्रह्मनिष्ठ जीवन्मुक्त के शरीर त्याग में देश काल आसनादि की अपेक्षा नहीं। चाहे बैठ कर ब्रह्म चिन्तन करता हुआ या रोग से व्याकुल होकर लेटे हुए हा हा

शब्द पुकारता हुआ मूर्छित होकर शरीर त्यागे तो भी सदा मुक्त है जैसा कि पंचदशी में लिखा है कि :—

नीरोग उपविष्टो वा रुगणो वा विलुठन भुवि ।
मूर्छितो वा त्यजत्येष प्राणान भ्रान्तिर्न सर्वथा ॥

क्योंकि विपरीत भावना फिर नहीं हो सकती ऐसे अन्तिम शरीरधारी ज्ञानी भक्तों का जन्म सफल है वैसे तो धौकनो भी सांस लेती है वृक्ष भी जीते हैं पशु भी खाते और सन्तान उत्पन्न करते हैं उनका जीना, जीना नहीं उसी प्रकार मनुष्य शरीर पाकर भी यदि भगवत शरणागति प्राप्त करने का यत्न न किया गया। धौकनी वत् सांस लेते रहे वृक्षवत् जीते रहे और पशुओं की भाँति सन्तानें पैदा करते रहे तो मनुष्य जीवन उसी प्रकार व्यर्थ हो गया जैसे यदि पारस की बटिया से लोहे को सोना न बनाकर आजन्म चटनी पीसने का काम लिया अथवा अमृत को पाकर पान न करके नाली में फेंक दिया जाये तो वह पारस की बटिया और अमृत मिलने पर भी न मिलने के बराबर है।

यदि शरीर के अभाव में जीवात्मा का भी नाश मान लिया जाय तो सुषुप्ति में जीवात्मा को नहीं रहना चाहिये। शरीर मन इन्द्रियों के नष्ट हो जाने पर भी जीवात्मा उसी प्रकार शेष रह जाता है जैसे दर्पण के नाश हो जाने पर भी दर्पण में अपना मुख देखने वाला शेष रह जाता है। यदि कोई मूर्ख यह कहे कि दर्पण के नष्ट हो जाने से हमारा मुख भी नष्ट हो गया क्योंकि दिखाई नहीं पड़ता तो उसकी बड़ी भारी मूर्खता है।

उसी प्रकार शरीर नाश से अपना नाश मानकर शरीर जीवन से राग करना और शरीर की मृत्यु से भय करना महान

पागलपन है। यदि नित्य सुख के अभिलाषी, मृत्यु से भयभीत श्रद्धालु मनुष्य श्री गीता का नित्य विचारपूर्वक भक्ति सहित पाठ करें और इसके रहस्य को जानने के लिये नम्रतापूर्वक शिष्यभाव से संतों का सत्संग किया करें तो निश्चय ही परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार होकर शोक मोह का अत्यन्ताभाव हो जायगा। दृढ़ अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान द्वारा संचित व क्रियमाण कर्मों का नाश हो जाता है और प्रारब्ध कर्मों के सुख दुख से भी अपरोक्ष ज्ञानी उसी प्रकार प्रथक हो जाता है जैसे पुरुष की छाया के मलिन या स्वच्छ स्थान पर पड़ने से पुरुष का कुछ हानि लाभ नहीं होता। इसी कारण भगवान कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि अनन्य शरण लेने पर मैं तुम को सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा। हे अर्जुन! तुम शोक मत करो। जैसे जागते ही स्वप्न के समस्त पाप शोक लुप्त हो जाते हैं उसी प्रकार हे अर्जुन मेरी शरण में आते ही शोक और शोक मूल पापों का तुझमें सूर्य में अन्धकार की भाँति पता नहीं रहेगा जैसे सूर्य की शरण प्राप्त हो जाने पर रात्रि का अभाव हो जाता है क्योंकि सूर्य के अप्रतीति काल में ही रात्रि का भाव सम्भव है। उसी प्रकार सर्वात्मा सर्वाधिष्ठान पूर्णतम पुरुषोत्तम परमात्मा की अनन्य शरणरूप दृढ़ अपरोक्षज्ञान प्राप्त हो जाने पर मोहरूपी रात्रि शोकरूपी अन्धकार सहित सदाके लिए समाप्त हो जाती है क्योंकि परमात्मा के अज्ञान से ही शोकरूप देह दृश्य स्वप्नवत अनहुआ प्रतीत होता चला आ रहा है। अस्तु शोक सागर से पार होने के लिये एक मात्र साधन भगवान कृष्ण को अनन्य शरणा गति है। वे पुरुष भी धन्य हैं जो शोकसागर से पार जाने के लिये श्री गीता रूपी जहाज़ का आश्रय लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु रूपी

कर्णधार द्वारा परब्रह्म परमात्मा कृष्ण की अनन्य शरण में जा रहे हैं। बड़े से बड़े पापी भी परमात्मा की अनन्य शरण प्राप्त करके साक्षात परब्रह्म स्वरूप ही हो जाते हैं जैसा कि भगवान राम ने भी कहा है :—

चौ०—कोटि विप्रवध लागहि जाऊ, आये शरण तजउं नहि ताऊ।
सन्मुख होय जीव मम जबहीं, जन्म कोटि अघ नाशहि तबहीं।
सरिता जल जलनिधि महँ जाई,होय अचल जिमिजिव हरि पाई।

सविलास महामोह की निवृत्ति पूर्वक परमानन्द कन्द सर्वात्मा परात्पर पुरुषोत्तम भगवान कृष्ण की प्राप्ति रूप मोक्ष का एकमात्र साधन अनन्य शरणागति इस गीता शास्त्र का तात्पर्य है। इसी लिये 'शिस्यस्तेऽहं शाधिमांत्वां प्रपन्नम' कहकर उपक्रम और "मामेकं शरणं व्रज" कहकर गीता का उपसंहार किया गया है। 'भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया'। 'निवासः शरणं सुहृत्' 'मांच योऽव्यभिचारेण भक्ति योगेन सेवते'। 'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्यें। 'तमेव शरणं गच्छ' इत्यादि वचनों से कहीं शब्दों द्वारा कहीं तात्पर्य द्वारा अभ्यास भी शरणागति का ही हुआ। 'नाहं वेदैर्न तपसा'। 'भक्त्यात्वनन्यया शक्य'। इत्यादि वचनों से अनन्य शरणागति को वेदादि समस्त साधनों से परे और विलक्षण बतलाया गया। अतएव अपूर्वता के सिद्धान्त से भी अनन्य शरणागति का ही गीता में निरूपण है। 'मद्भक्तिं लभते पराम' अर्थात ब्रह्म-भूत तत्ववेत्ता पराभक्ति रूप अनन्य शरणागति को प्राप्त होता है ऐसा कह कर फल बतलाया जिससे गीता का तात्पर्य अनन्य शरणागति ही सिद्ध होता है। 'ततोयान्त्यधमां गतिम'। 'न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि। हत्वापि सइमाँल्लोकान्न हन्तिननिबध्यते। इत्यादि निन्दा

अस्तुति रूप अर्थवाद द्वारा भी गीता का तात्पर्य अनन्य शरणागति ही सिद्ध है 'यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके'। इत्यादि युक्तियों से यह बतलाया कि जैसे समुद्र को प्राप्त कर लेनेवाले को जल की आवश्यकता नहीं रहती उसी प्रकार से आनन्द सिन्धु पुरुषोत्तम भगवान को प्राप्त हुये परमानन्द रूप अनन्य शरणागत को आनन्द की इच्छा नहीं रहती। अतएव उपपत्ति द्वारा भी गीता का तात्पर्य अनन्य शरणागति सिद्ध है। उपक्रम उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति—ये छः लिङ्ग ग्रन्थ के तात्पर्य के निर्णायक हैं जिनके द्वारा भी भगवान की अनन्य शरण प्राप्त करना गीता का तात्पर्य सिद्ध हो जाता है। यदि यह शंका पैदा हो कि 'स एवाहम' अर्थात वही मैं हूँ, इस प्रकार की अनन्य शरणागति कैसे सम्भव है क्योंकि स्त्री अपने पति से यह कह सकती है कि मैं अपने पति की दासी हूँ और विशेष प्रेम होने पर यह भी कह सकती है कि वह मेरा स्वामी हैं और मेरे वश में है, परन्तु वह स्त्री यह कभी नहीं कह सकती कि वह पति मैं ही हूं। इसी प्रकार 'तस्यैवाहं' 'ममैवासौ,' तो कहा जा सकता है परन्तु स एवाह' ऐसा कहना असम्भव है। उसका समाधान यह है कि जो संबंध स्त्री और पति में है वह संबन्ध जीव और ब्रह्म में नहीं है। जीव के सामान्य रूपचिदाभास का ब्रह्म से वही संबन्ध है जो विम्ब से प्रतिविम्ब का होता है और जीव के विशेष रूप कूटस्थ का ब्रह्म से वही संबन्ध है जो घटाकाश का महाकाश से है। अतः जीव यह भी डंके की चोट पर कह सकता है कि वह ब्रह्म मैं हूँ। जब देह दृश्य से मीरा प्रह्लाद की भांति ममता का अभाव हो जाय तब 'तस्यैवाहं' ओर ममैवासो' की धारणा पक्की

समझना चाहिये और देह दृश्य सहित ममताअहंता का रज्जु के ज्ञान होने पर सर्प के समान बाध हो जाय तब 'स एवाहं' की धारणा पक्की समझना चाहिये। परन्तु भगवान की शरण प्राप्त करने के लिये पहले तत्वदर्शीसन्तों की शरण लेना चाहिये क्योंकि :—

विन सत्संग विवेक न होई। राम कृपा विनु सुलभ न सोई।
तवहिं होइ सब संशय भंगा। जब बहुकाल करिय सतसंगा।
दो०—यह रहस्य रघुनाथ कर-बेगिन जानै कोय।
जाने ते रघुपति कृपा-सपनेहु मोह न होय।
सियावर रामचन्द्र की जै।

हरिः ॐ तत्सत्

इति अष्टादशश्लोकी गीतामृतवर्षिणी समाप्ता

शान्तिः शान्तिः शान्तिः

आवृत्ति का शुद्धाशुद्ध पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	१६	गामी	गामिनी
१२	२१	मृत्तिका	मृत्तिका
	२४	सत्ता	सत्वा
१३	४	समास	साभास
	९	दृष्टन्त	दृष्टान्त
१४	२७।२२	ज्ञानेन्द्रियां, लम्बी	ज्ञानेन्द्रियाँ, वन्वी
१६	५	चैतन्या आत्मा	चैतन्य०
२३	१७	जसका	जिसका
२६	१०	बुदबुदीं	बुदबुदों
३२	२०	मनो	मन
४५	७	रहते रहते	रहते०
	१६	पुरुव	पुरुष
४७	२	ब्रह्म परोक्ष	०परोक्ष
५१	६	असंगत	असंगता
५२	१७	कम	कर्म
५३	२	जैसै	जैसे
५४	७	अत	अत:
	१४	प्राप्न	प्राप्त
५८	९	तत्स्रष्ठ	तत्स्रष्टा
६१	१४	दृष्टा	द्रष्टा
६५	६	रुष	पुरुष
	२०	आदि	अनादि
६६	२२	सेवक को	सेवक०
६७	५	यह जैसे	०जैसे
	१३	सम्प्रति को	सम्पति०
६८	१०	खायंभुव	स्वायंभुव
७१	६	पुलकत	पुलक
	१८	प्रभु भय	प्रभु मय
७४	१२	शरीर की	शरीर को
७६	१५	धन	वन

* प्रार्थना *

हे प्रभो तेरी शरण से अब कहीं

मार्ग दिखलादे वही पीछे जो प

ज्ञान भक्ती का मुझे देकर प्रभो

मोह मद लोभों में फँस कर दिल

जय करो दाया तुम्हीं माया से

हे प्रभो तृष्णा नदी से जिससे

याद है जगदीश तेरी हम न भू

अन्त अवसर पर हे स्वामी जि

मुक्ति दे आवागमन से चाहता

हे प्रभो संसार में अब फिर कभ